भगवान महावीर की पच्चीस-सौ वीं निर्वाण तिथि-समारोह के उपलक्ष्य में

सूक्ति त्रिवेणी

(द्वितीय खण्ड, बौद्ध धारा)

उपाध्याय अमरमुनि

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

सन्मति-साहित्य रत्न माला का रत्न ९९ वां

पुस्तक:
सूक्ति त्रिवेणी
(द्वितीय खण्ड, बौद्धधारा)

संपादक :
उपाध्याय अमरमुनि

विषय :
पालि बौद्ध वाङ्मय की सूक्तियां

पुस्तक पृष्ठ :
एक सौ पचास

प्रथम प्रकाशन :
१५ नवम्बर १९६७

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी आगरा-२

मूल्य: तीन रुपए

मुद्रक :
श्री विष्णु प्रिन्टिंग प्रेस,
राजा की मण्डी आगरा-२

सम्पादकीय

भारतीय धर्मों की पवित्र त्रिवेणी में बौद्ध-धर्म की धारा का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन क्षेत्र में श्रमण-संस्कृति का स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय योगदान है। जैन धारा के समान ही यह पवित्रधारा भी ढाई हजार वर्ष से दूर-दूर तक के भारतीय दिगन्तों को स्पर्श करती हुई अविरल गति से बह रही है। भारत ही नहीं, किन्तु चीन, जापान, लंका, बर्मा, कम्बोडिया, थाईदेश आदि अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को भी इसने प्रभावित किया है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय धर्म के रूप में अपने को प्रख्यापित किया है। तथागत बुद्ध के नैतिक उपदेशों को लेकर सहस्राधिक वर्षों से सहस्राधिक साहसी भिक्षु विश्व के दूर-दूर तक के प्रदेशों में चारिका करते हुए जन-जीवन के विकास तथा अभ्युदय के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं।

भगवान बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों के आध्यात्मिक एवं नैतिक उपदेश, उनका पवित्र जीवन एवं उत्तरकालीन परम्परा के महत्वपूर्ण सन्दर्भ आज भी त्रिपिटक के रूप में सुरक्षित हैं। त्रिपिटक साहित्य भारतीय-वाङ्मय का एक महत्वपूर्ण अंग है। उसमें यत्र-तत्र अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक उपदेश—वचन, नीतिबोध और कर्तव्य की प्रेरणा देने वाली बहुत-सी गाथाएँ संगृहीत की की गई हैं। त्रिपिटक साहित्य मूल पालि में है, किन्तु उसके अनेक अनुवाद, विवेचन एवं टीकाग्रन्थ, बर्मी, सिंहली, अंग्रेजी आदि भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। प्राचीनकाल में ही तथागत के उपदेशप्रधान वचनों का सार संग्रह धम्मपद में बहुत सुन्दर रीति से संकलित किया गया है, जिसके भारतीय तथा भारतीयेतर भाषाओं में अनेक अनुवाद हो चुके हैं।

'सूक्ति त्रिवेणी' की बौद्धधारा का संकलन जब करने लगा तो भगवान बुद्ध के उपदेशों के अनेक संग्रह मेरे सामने आए, एक पारखी ग्राहक की दृष्टि से देखने पर मुझे उनसे संतोष नहीं हुआ। कुछ संग्रह सिर्फ अनुवाद मात्र थे; कुछ मूल पालि में ही संकलित थे। उनमें भी कुछ अमुक दो-चार ग्रन्थों तक ही सीमित थे। इसलिए विचार हुआ कि सम्पूर्ण बौद्ध-वाङ्मय रूप रत्नाकर का

आलोडन करके कुछ नवीन और कुछ मौलिक विचारमणियाँ प्राप्त की जायें। इस दृष्टि से मूल त्रिपिटिक का अनुशीलन करके उसमें से शाश्वत-सत्य को प्रकट करने वाले वचनों का संकलन करना प्रारम्भ किया।

भगवान बुद्ध के उपदेशप्रद सुभाषितों की शैली बहुत ही सुन्दर, मोहक एवं मार्मिक है। कहीं-कहीं कुछ वचनों की व्यंजना तो बहुत ही कलापूर्ण तथा मर्मस्पर्शी हुई है। जीवन के श्रेय और प्रेय की साधना में उनका अध्ययन बहुत ही प्रभावशाली हो सकता है। मानव को जीवन निर्माण की एक शाश्वत प्रेरणा उनमे प्राप्त हो सकती है। इस सकलन मे यही दृष्टि मुख्य रही है।

मूल पालि से हिन्दी मे अनुवाद करने मे कही-कही कठिनाई भी आई। वर्तमान पाठक का इस परम्परा से अधिक नैकट्य नही रहा है, और पालि भाषा से तो लगभग नैकट्य है ही नही। इस स्थिति मे, परम्परागत पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के बिना, अर्थबोध हृदयग्राही नही बन सकता था। इस कठिनाई को ध्यान मे रखते हुए अनुवाद की शैली म कुछ सशोधन किया गया है। मूल का शब्दानुवाद नही करके भावानुवाद करने का प्रयत्न किया है, और पारिभाषिक शब्दों का अर्थ भी अनुवाद के साथ ही कर दिया गया है। मेरा प्रयत्न यही रहा है कि अर्थ को समझने के लिए व्यर्थ का शब्द जाल न फैलाया जाय ताकि पाठकों की इस प्रकार के सांस्कृतिक साहित्य के अनुशीलन की अभिरुचि कम न हो।

पालि बौद्ध-साहित्य मे 'विसुद्धिमग्गो' का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य बुद्धघोष की यह रचना आध्यात्मिक क्षेत्र में एक बहुत बड़ी देन है। यद्यपि यह त्रिपिटिक में परिगणित नही है, फिर भी इसका महत्व त्रिपिटिक से कुछ कम नही है। अतः प्रस्तुत संकलन मे 'विसुद्धिमग्गो' के सुवचनों को लेने का लोभ भी मै संवरण नहीं कर सका।

जैसा भी मैं कुछ कर सकता था, मैंने कर दिया। अब रहा इस संकलन की श्रेष्ठता और सफलता का मूल्यांकन, वह तो पाठकों की पारखी दृष्टि ही करेगी, मैं तो अपने प्रयत्न की सिद्धि से ही आत्मतोष अनुभव करने वाला हूं।

कार्तिक पूर्णिमा
वि० २०२८, आगरा

—उपाध्याय अमरमुनि

प्रकाशकीय

चिर अभिलषित, चिर प्रतीक्षित-सूक्ति त्रिवेणी का सुन्दर और महत्वपूर्ण संकलन अपने प्रिय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपने को गौरवान्वित समझते हैं।

जैन जगत के बहुश्रुत मनीषी, उपाध्याय श्री अमरमुनि जी की चिन्तन एवं ओजपूर्ण लेखिनी से वर्तमान का जैन समाज ही नहीं, किन्तु भारतीय संस्कृति और दर्शन का प्रायः प्रत्येक प्रबुद्ध जिज्ञासु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिचित है। निरन्तर बढ़ती जाती वृद्धावस्था, साथ ही अस्वस्थता के कारण उनका शरीरबल क्षीण हो रहा है किन्तु जब प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में वे आठ-आठ दस-दस घण्टा सतत संलग्न रहे हैं, पुस्तकों के बीच खोए रहे हैं, तब लगा कि उपाध्याय श्री जी अभी युवा हैं, उनकी साहित्य-श्रुत-साधना अभी भी वैसी ही तीव्र है, जैसी कि निशीथ-भाष्य चूर्णि के संपादन के समय थी।

'सूक्ति त्रिवेणी' सूक्ति और सुभाषितों के क्षेत्र मे अपने साथ एक नवीनयुग का आरम्भ लेकर आ रही है। इस प्रकार के तुलनात्मक और अनुशीलनपूर्ण मौलिक संग्रह का अब तक भारतीय वाङ्मय में प्रायः अभाव-सा था, उस अभाव की पूर्ति एक प्रकार से नवीन युग का प्रारम्भ है।

इस महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रकाशन एक ऐसी दिशा मे हो रहा है जो अपने समग्र जैन समाज के लिए महत्वपूर्ण अवसर है। श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस-सौवी निर्वाण तिथि मनाने के सामूहिक प्रयत्न तीव्रता के साथ चल रहे हैं। विविध प्रकार के साहित्य-प्रकाशन की योजनाएँ बन रही है। सन्मति ज्ञान पीठ अपनी विशुद्ध परम्परा के अनुरूप इस प्रकार के सांस्कृतिक प्रकाशनों की दिशा में सदा सचेष्ट रहा है तथा वर्तमान में और अधिक तीव्रता के साथ सचेष्ट है। सूक्ति-त्रिवेणी का यह महत्व पूर्ण प्रकाशन, इस अवसर पर पहला श्रद्धास्निग्ध उपहार है।

सूक्ति त्रिवेणी की तीनों धाराएँ संयुक्त रूप से आकार में बड़ी होंगी। पाठकों की विभिन्न रुचियों को ध्यान में रखते हुए इसे संयुक्त रूप में भी और अलग-अलग खण्डों में भी प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। तदनुसार 'जैन धारा' के रूप मे प्रथम खण्ड पाठकों की सेवा में पहुँच चुका है। 'बौद्ध धारा' का यह द्वितीय खण्ड प्रस्तुत है तथा 'वैदिक धारा' का तृतीय खण्ड भी शीघ्र ही हम प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

—मंत्री
सन्मति ज्ञानपीठ

सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता ।

एकं अत्थपदं सेय्यो, य सुत्वा उपसम्मति ।।

अनुक्रम

सूक्ति

त्रि वे णी

बौद्ध-धारा

सुत्तपिटक :

दीघनिकाय की सूक्तियां[1]

●

१. सीलपरिधोता पञ्ञा, पञ्ञापरिधोतं सीलं।
यत्थ सीलं तत्थ पञ्ञा, यत्थ पञ्ञा तत्थ सीलं।

—१।४।४

२. रागरत्ता न दक्खंति, तमोखंधेन आवुटा।

—२।१।६

३. देवतानुकम्पितो पोसो, सदा भद्रानि पस्सती।

—२।३।६

४. अप्पमत्ता सतीमन्तो, सुसीला होथ भिक्खवो!

—२।३।१७

५. वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्पादेथा।

—२।३।२३

६. अनिच्चा वत संखारा, उप्पादवयधम्मिनो।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति, तेसं वूपसमो सुखो॥

—२।३।२३

१—भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नव नालन्दामहाविहार संस्करण।

सुत्तपिटक :

दीघनिकाय की सूक्तियां

●

१. शील से प्रज्ञा (=ज्ञान) प्रक्षालित होती है, प्रज्ञा से शील (आचार) प्रक्षालित होता है।

जहाँ शील है, वहाँ प्रज्ञा है। जहाँ प्रज्ञा है वहाँ शील है।

२. गहन अन्धकार से आच्छन्न रागासक्त मनुष्य सत्य का दर्शन नहीं कर सकते।

३. जिस पर देवताओं (दिव्यपुरुषों) की कृपा हो जाती है, वह व्यक्ति सदा मंगल ही देखता है, अर्थात् कल्याण ही प्राप्त करता है।

४. भिक्षुओ! सदैव अप्रमत्त, स्मृतिमान् (सावधान) और सुशील (सदाचारी) होकर रहो।

५. जो भी संस्कार (कृत वस्तु) हैं, सब व्ययधर्मा (नाशवान्) हैं। अतः अप्रमाद के साथ (आलस्य रहित होकर) जीवन के लक्ष्य का सम्पादन करो।[1]

६. सभी संस्कार (उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ) अनित्य हैं, उत्पत्ति और क्षय स्वभाव वाले हैं। अस्तु जो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाले हैं, उनका शान्त हो जाना ही सुख है।[2]

१—बुद्ध की अन्तिम वाणी। २—बुद्ध के निर्वाण पर देवेन्द्र शक्र की उक्ति।

७. दुक्खा सापेक्खस्स कालं किरिया,
गरहिता च सापेक्खस्स कालं किरिया।

—२।४।१३

८. सारथीव नेत्तानि गहेत्वा, इन्द्रियाणि रक्खन्ति पण्डिता।

—२।७।१

९. पियाप्पिये सति इस्सामच्छरियं होति,
पियाप्पिये असति इस्सामच्छरियं न होति।

—२।८।३

१०. छन्दे सति पियाप्पियं होति,
छन्दे असति पियाप्पियं न होति।

—२।८।३

११. सक्कच्चं दानं देथ, सहत्था दानं देथ,
चित्तीकतं दानं देथ, अनपविद्धं दानं देथ।

—२।१०।५

१२. याव अत्तानं न पस्सति, कोत्थु ताव व्यग्घो त्ति मञ्ञति।

—३।१।६

१३. लाभ-सक्कार-सिलोकेन अत्तानुक्कंसेति परं वम्भेति,
अयं पि खो, निग्रोध, तपस्सिनो उपक्किलेसो होति।

—३।२।४

१४. तपस्सी अक्कोधनो होति, अनुपनाही।

—३।२।५

१५. तपस्सी अनिस्सुकी होति, अमच्छरी।

—३।२।५

१६. अत्तदीपा भिक्खवे विहरथ, अत्तसरणा, अनञ्ञसरणा।

—३।३।१

७. कामनायुक्त मृत्यु दुःखरूप होती है, कामनायुक्त मृत्यु निन्दनीय होती है।

८. जिस प्रकार सारथि लगाम पकड़ कर रथ के घोड़ों को अपने वश में किए रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी साधक ज्ञान के द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं।

९. प्रिय-अप्रिय होने से ही ईर्ष्या एवं मात्सर्य होते हैं।
प्रिय-अप्रिय के न होने से ईर्ष्या एवं मात्सर्य नहीं होते।

१०. छन्द (कामना-चाह) के होने से ही प्रिय-अप्रिय होते हैं। छन्द के न होने से प्रिय-अप्रिय नहीं होते।

११. सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, ठीक तरह से दोषरहित दान दो।

१२. जब तक अपने आपको नहीं पहचानता, तब तक सियार अपने को व्याघ्र समझता है।

१३. जो लाभ, सत्कार और प्रशंसा होने पर अपने को बड़ा समझने लगता है और दूसरों को छोटा, हे निग्रोध! यह तपस्वी का उपक्लेश है।

१४. सच्चा तपस्वी क्रोध और वैर से रहित होता है।

१५. सच्चा तपस्वी ईर्ष्या नहीं करता, मात्सर्य नहीं करता।

१६. भिक्षुओ! आत्मदीप (स्वयं प्रकाश, आप ही अपना प्रकाश) और आत्मशरण (स्वावलम्बी) होकर विहार करो, किसी दूसरे के भरोसे मत रहो।

१७. 'यं अकुसलं तं अभिनिवज्जेय्यासि,
यं अकुसलं तं समादाय वत्तेय्यासि;
इदं खो, तात, तं अरियं चक्कवत्तिवतं।

—३।३।१

१८. अधनानं धने अननुप्पदीयमाने दालिद्दियं वेपुल्लमगमासि,
दालिद्दिये वेपुल्लं गते अदिन्नादान वेपुल्लमगमासि।

—३।३।४

१९. धम्मो व सेट्ठो जनेतस्मिं, दिट्ठे चेव धम्मे अभिसम्परायं च।

—३।४।२

२०. पाणातिपातो अदिन्नादानं, मुसावादो च वुच्चति।
परदारगमनं चेव, नप्पसंसन्ति पण्डिता॥

—३।८।१

२१. छन्दागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति,
दोसागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति,
मोहागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति,
भयागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति।

—३।८।२

२२. छन्दा दोसा भया मोहा, यो धम्मं नातिवत्तति।
आपूरति यसो तस्स, सुक्कपक्खे व चन्दिमा॥

—३।८।२

२३. जूतप्पमादट्ठानानुयोगो भोगानं अपायमुखं,
पापमित्तानुयोगो भोगानं अपायमुखं,
आलस्यानुयोगो भोगानं अपायमुखं।

—३।८।२

२४. सन्दिट्ठिका धनजानि, कलहप्पवड्ढनो, रोगानं आयतनं,
अकित्तिसञ्जननी, कोपीननिदंसनी पञ्ञाय दुब्बलिकरणी।

—३।८।२

२५. यो च अत्थेसु जातेसु, सहायो होति सो सखा।

—३।८।२

१७. 'जो बुराई है उसका त्याग करो और जो भलाई है उसको स्वीकार कर पालन करो'— तात, यही आर्य (श्रेष्ठ) चक्रवर्ती व्रत है।

१८. निर्धनों को धन न दिये जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गई और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बहुत बढ़ गई।

१९. धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में भी, परजन्म में भी।

२०. जीवहिंसा, चोरी, झूठ और परस्त्रीगमन—ये कलुषित कर्म हैं। इन कर्मों की पंडितजन प्रशंसा नहीं करते।

२१. मनुष्य राग के वश होकर पापकर्म करता है, द्वेष के वश होकर पापकर्म करता है, मोह के वश होकर पापकर्म करता है, भय के वश होकर पापकर्म करता है।

२२. जो छन्द (राग), द्वेष, भय और मोह से धर्म का अतिक्रमण नही करता, उसका यश शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति निरन्तर बढ़ता जाता है।

२३. जूआ आदि प्रमाद स्थानों का सेवन ऐश्वर्य के विनाश का कारण है। बुरे मित्रो का संग ऐश्वर्य के विनाश का कारण है। आलस्य में पड़े रहना ऐश्वर्य के विनाश का कारण है।

२४. शराब तत्काल धन की हानि करती है, कलह को बढ़ाती है, रोगों का घर है, अपयश पैदा करने वाली है, लज्जा का नाश करने वाली है और बुद्धि को दुर्बल बनाती है।

२५. जो काम पड़ने पर समय पर सहायक होता है, वही सच्चा मित्र है।

२६. उस्सूरसेय्या परदारसेवा,
वेरप्पसवो च अनत्थता च।
पापा च मित्ता सुकदरियता च,
एते छ ठाना पुरिसं धंसयन्ति ॥

—३।८।२

२७. निहीनसेवी न च वुद्धसेवी,
निहीयते कालपक्खे व चन्दो।

—३।८।२

२८. न दिवा सोप्पसीलेन, रत्तिमुट्ठानदेस्सिना।
निच्चं मत्तेन सोण्डेन, सक्का आवसितुं घरं।

—३।८।२

२९. अतिसीतं अतिउण्हं, अतिसायमिदं अहु।
इति विस्सट्ठकम्मन्ते, अत्था अच्चेन्ति माणवे ॥

—३।८।२

३०. योध सीतं च उण्हं च, तिणा भिय्यो न मञ्ञति।
करं पुरिसकिच्चानि, सो सुखं न विहायति ॥

—३।८।२

३१. सम्मुखास्स वण्णं भासति।
परम्मुखास्स अवण्णं भासति।

—३।८।३

३२. उपकारको मित्तो सुहदो वेदितब्बो,
समानसुखदुक्खो सुहदो वेदितब्बो।

—३।८।४

३३. पण्डितो सीलसंपन्नो, जलं अग्गी व भासति।

—३।८।४

३४. भोगे संहरमानस्स, भमरस्स इरीयतो।
भोगा संनिचयं यन्ति, वम्मिकोवुपचीयति।

—३।८।४

२६. अतिनिद्रा, परस्त्रीगमन, लड़ना-झगड़ना, अनर्थ करना, बुरे लोगों की मित्रता और अति कृपणता—ये छह दोष मनुष्य को बर्बाद करने वाले हैं।

२७. जो नीच पुरुषों के संग रहते हैं, ज्ञानी जनों का सत्संग नहीं करते, वे कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान निरन्तर हीन (क्षीण) होते जाते हैं।

२८. जो दिन में सोता रहता है, रात में उठने से घबराता है, और हमेशा नशे में धुत रहता है, वह घरगृहस्थी नहीं चला सकता।

२६. आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो बहुत सन्ध्या (देर) हो गई,—इस प्रकार कर्तव्य से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन दरिद्र हो जाता है।

३०. जो व्यक्ति काम करते समय सर्दी-गर्मी को तिनके से अधिक महत्व नहीं देता, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता।

३१, दुष्ट मित्र सामने प्रशंसा करता है, पीठ पीछे निन्दा करता है।

३२. उपकार करने वाला मित्र सुहृद् होता है, सुख दुःख में समान भाव से साथ रहने वाला मित्र सुहृद् होता है।

३३. सदाचारी पंडित प्रज्वलित अग्नि की भांति प्रकाशमान होता है।

३४, जैसे कि मधु जुटाने वाली मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, जैसे कि वल्मीक बढ़ता है, वैसे ही धर्मानुसार कमाने वाले का ऐश्वर्य बढ़ता है।

३५. एकेन भोगे भुञ्जेय्य, द्वीहि कम्मं पयोजये।
चतुत्थं च निधापेय्य, आपदासु भविस्सति॥

—३।८।४

३६. माता-पिता दिसा पुब्बा, आचरिया दक्खिणा दिसा।
पुत्त-दारा दिसा पच्छा, मित्तमच्चा च उत्तरा॥
दास-कम्मकरा हेट्ठा, उद्धं समण-ब्राह्मणा।
एता दिसा नमस्सेय्य, अलमत्तो कुले गिहा॥

—३।८।५

३८. पण्डितो सील-संपन्नो, सण्हो च पटिभानवा।
निवातवुत्ति अत्थद्धो, तादिसो लभते यसं॥

—३।८।५

३९. उट्ठानको अनलसो, आपदासु न वेधति।
अच्छिद्दवुत्ति मेधावी, तादिसो लभते यसं॥

—३।८।५

४०. यथा दिवा तथा रत्ति, यथा रत्ति तथा दिवा।

—३।१०।३

३५. सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का स्वयं उपयोग करे, दो भागों को व्यापार आदि कार्य क्षेत्र में लगाए और चौथे भाग को आपत्तिकाल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।

३६. माता-पिता पूर्व दिशा हैं, आचार्य (शिक्षक) दक्षिण दिशा है, स्त्री-पुत्र पश्चिम दिशा हैं, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा हैं—
दास और कर्मकर=नौकर अधोदिशा (नीचे की दिशा) है, श्रमण-ब्राह्मण ऊर्ध्व-दिशा—ऊपर की दिशा है। गृहस्थ को अपने कुल में इन छहो दिशाओ को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिए, अर्थात् इनकी यथा-योग्य सेवा करनी चाहिए।[1]

३७. पण्डित, सदाचारपरायण, स्नेही, प्रतिभावान, एकान्तसेवी--आत्मसंयमी, विनम्र पुरुष ही यश को पाता है।

३८. उद्योगी, निरालस, आपत्ति में न डिगनेवाला, निरन्तर काम करनेवाला, मेधावी पुरुष यश को पाता है।

३९. साधक के लिए जैसा दिन वैसी रात, जैसी रात वैसा दिन।

१—राजगृहनिवासी श्रेष्ठी पुत्र शृगाल, पिता के अन्तिम कथनानुसार छहों दिशाओं को नमस्कार करता था, किन्तु वह 'छह दिशा' के वास्तविक मर्म को नहीं जान पा रहा था। तथागत बुद्ध ने 'छह दिशा' की यह वास्तविक व्याख्या उसे बताई।

सुत्तपिटक :

मज्झिमनिकाय की सूक्तियां[1]

●

१. सम्पन्नसीला, भिक्खवे, विहरथ !

—१।६।१

२. निच्चं पि बालो पक्खंतो, कण्हकम्मो न सुज्झति ।

—१।७।६

३. सुद्धस्स वे सदा फग्गु, सुद्धस्सुपोसथो सदा ।
सुद्धस्स सुचिकम्मस्स सदा सम्पज्जते वतं ॥

—१।७।६

४. 'अत्तना पलिपपलिपन्नो परं पलिपपलिपन्नं,
उद्धरिस्सती' ति नेतं ठानं विज्जति ।
'अत्तना अपलिपपलिपन्नो परं पलिपपलिपन्नं ।
उद्धरिस्सती' ति ठानमेतं विज्जति ॥

—१।८।६

५. कतमं चावुसो, अकुसलमूलं ?
लोभो अकुसलमूलं, दोसो अकुसलमूलं, मोहो अकुसलमूलं ।

—१।६।२

---

1. भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालन्दामहाविहार संस्करण ।

सुत्तपिटक :

मज्झिमनिकाय की सूक्तियां

●

१. भिक्षुओ ! शील-संपन्न होकर विचरो ।

२. काले (बुरे) कर्म करने वाला मूढ चाहे तीर्थों में कितनी ही डुबकियाँ लगाए, किन्तु वह शुद्ध नहीं हो सकता ।

३. शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गु (गया के निकट पवित्र नदी) है, सदा ही उपोसथ (व्रत का दिन) है। शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत सदा ही सम्पन्न (पूर्ण) होते रहते हैं।

४. जो स्वयं गिरा हुआ है, वह दूसरे गिरे हुए को उठाएगा, यह सम्भव नहीं है।
जो स्वयं गिरा हुआ नहीं है, वही दूसरे गिरे हुए को उठाएगा, यह संभव है।

५. आयुष्मन् ! पाप (अकुशल) का मूल क्या है ?
लोभ पाप का मूल है, द्वेष पाप का मूल है।
और मोह पाप का मूल है।

६. भिक्खवे, कुल्लूपमो, मया धम्मो देसितो
निथ्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय ॥

—१।२२।४

७. राग-दोस परेतहि, नायं धम्मो सुसम्बुधो ।

—१।२६।३

८. भिक्खवे, नयिदं ब्रह्मचरियं लाभ-सक्कार-सिलोकानिसंसं ।

—१।२६।५

९. न ताव, भिक्खवे, भिक्खुनो इधे कच्चे आदीनवा संविज्जन्ति,
याव न अत्तज्झापन्नो होति यसप्पत्तो ।

—१।४७।१

१०. विज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे ।

—२।३।५

११. यं करोति तेन उपपज्जति ।

—२।७।२

१२. यस्स कस्सचि सम्पजानमुसावादे नत्थि लज्जा,
नाहं तस्स किञ्चि पापं अकरणीयं ति वदामि ।

—२।११।१

१३. पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा कायेन कम्मं कातब्बं ।
पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा वाचाय कम्मं कातब्बं ।
पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा मनसा कम्मं कातब्बं ।

—२।११।२

१४. न मीयमानं धनमन्वेति किञ्चि,
पुत्ता च दारा च धनं च रट्ठं ।

—२।३२।४

१५. न दीघमायुं लभते धनेन,
न चा पि वित्तेन जरं विहन्ति ।

—२।३२।४

१६. तस्मा हि पञ्ञा व धनेन सेय्यो,
याय वोसानमिधाधिगच्छति ।

—२।३२।४

६. भिक्षुओ ! मैंने बेड़े की भांति निस्तरण (पार जाने) के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश किया है, पकड़ रखने के लिए नहीं ।

७. जो व्यक्ति राग और द्वेष से प्रलिप्त है, उस को धर्म का जान लेना सुकर नहीं है ।

८. भिक्षुओ ! यह ब्रह्मचर्य (संयम) लाभ, सत्कार एवं यश पाने के लिए नहीं है ।

९. भिक्षुओ ! जब तक भिक्षु को ख्याति एवं यश प्राप्त नहीं होता है, तब तक उसको कोई भी दोष नहीं होता ।

१०. जो विद्या और चरण से सम्पन्न है, वह सब देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ है ।

११. प्राणी जो कर्म करता है, वह अगले जन्म में उसके साथ रहता है ।

१२. जिसे जान-बूझ कर झूठ बोलने में लज्जा नहीं है उसके लिए कोई भी पाप कर्म अकरणीय नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

१३. अच्छी तरह देख-परख कर काया से कर्म करना चाहिए ।
अच्छी तरह देख-परख कर वचन से कर्म करना चाहिए ।
अच्छी तरह देख-परख कर मन से कर्म करना चाहिए ।

१४. मरने वाले के पीछे पुत्र, स्त्री, धन और राज्य कुछ भी नहीं जाता है ।

१५. धन से कोई लम्बी आयु नहीं पा सकता है, और न धन से जरा का ही नाश किया जा सकता है ।

१६. धन से प्रज्ञा ही श्रेष्ठ है, जिससे कि तत्त्व का निश्चय होता है ।

१७. चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो,
सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।
एवं पजा पेच्च परम्हि लोके,
सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।

—२।१२।४

१८. यो पुब्बेव पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सोमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥

—२।१६।४

१९. दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता।

—२।१६।४

२०. अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं।

—२।१६।४

२१. यो खो, महाराज, कायसमाचारो अत्तब्याबाधाय पि संवत्तति,
परब्याबाधाय पि संवत्तति, उभयब्याबाधायपि संवत्तति,
तस्स अकुसला धम्मा अभिवड्ढन्ति, कुसला धम्मा परिहायन्ति।

—२।३८।१

२२. भिक्खवे, यानि कानिचि भयानि उप्पज्जन्ति
सब्बानि तानि बालतो उप्पज्जन्ति, न पण्डिततो।
ये केचि उपद्दवा उप्पज्जन्ति,
सब्बे ते बालतो उप्पज्जन्ति, नो पण्डिततो।

—३।१।५।१

२३. कतमा च, भिक्खवे, मिच्छा वाचा ?
मुसावादो, पिसुणा वाचा, फरुसा वाचा, सम्फप्पलापो।

—३।१७।१

२४. सम्मासमाधिस्स सम्माञाणं होति,
सम्माञाणस्स सम्माविमुत्ति पहोति।

—३।१७।१

२५. पुथुसद्दो समजनो, न बालो कोचि मञ्ञथ।

—३।१८।१

१७. सेंध के द्वार पर पकड़ा गया पापी चोर जैसे अपने ही कर्म से मारा जाता है, इसी प्रकार पापी जन मरकर परलोक में अपने ही कर्म से पीड़ित होते हैं।

१८. जो पहले के अर्जित पाप को बाद में मार्जित (साफ) कर देता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है।

१९. जैसे बढ़ई लकड़ी को सीधा करते हैं, वैसे ही पण्डित अपने को अर्थात् आत्मा को साधते हैं।

२०. अप्रमत्त भाव से ध्यान करने वाला साधक विपुल सुख को पाता है।

२१. महाराज ! जो कायिक आचरण अपनी पीड़ा के लिए होता है, पर की पीड़ा के लिए होता है, दोनों की पीड़ा के लिए होता है, उससे अकुशल धर्म (पाप) बढ़ते हैं, कुशल धर्म नष्ट हो जाते हैं।

२२. भिक्षुओ ! जो भी भय उत्पन्न होते हैं, वे सभी मूर्ख से उत्पन्न होते हैं, पण्डित से नहीं।
जो भी उपद्रव उत्पन्न होते हैं वे सभी मूर्ख से उत्पन्न होते हैं, पण्डित से नहीं।

२३. भिक्षुओ ! मिथ्या वचन क्या है ?
मृषावाद (झूठ), चुगली, कटु वचन और बकवास मिथ्या वचन है।

२४. सम्यग्समाधि से ही सम्यग्ज्ञान होता है,
सम्यग्ज्ञान से ही सम्यग् विमुक्ति होती है।

२५. बड़ी-बड़ी बातें बनाने वाले एक जैसे लोगों में, कोई भी अपने को बाल (अज्ञ) नहीं मानता।

२६. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।

—३।२८।१

२७. अतीतं नान्वागमेय्य, नप्पटिकंखे अनागतं।
यदतीतं पहीनं तं, अप्पत्तं च अनागतं॥

—३।३१।१

२८. अज्जेव किच्चमातप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे।

—३।३१।१

२९. अतरमानो व भासेय्य, नो तरमानो।

—३।३९।१

३०. तरमानस्स भासतो कायो पि किलमति,
चित्तं पि उपहञ्ञति, सरो पि उपहञ्ञति,
कण्ठो पि आतुरीयति, अविसट्ठं पि होति,
अविञ्ञेय्यं तरमानस्स भासितं।

—३।३९।२

३१. एसो हि, भिक्खु, परमो अरियो उपशमो,
यदिदं राग-दोस-मोहानं उपशमो।

—३।४०।२

३२. मुनि खो पन, भिक्खु, सन्तो न जायति,
न जीयति, न मीयति।

—३।४०।२

३३. कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा॥

—३।४३।३

३४. यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं।

—३।४७।१

२६. अकेला विचरना अच्छा है, परन्तु मूर्ख साथी अच्छा नहीं।

२७. न अतीत के पीछे दौड़ो और न भविष्य की चिन्ता में पड़ो। क्योंकि जो अतीत है, वह तो नष्ट हो गया, और भविष्य अभी आ नहीं पाया है।

२८ आज ही अपने कर्तव्य कर्म में जुट जाना चाहिए। कौन जानता है, कल मृत्यु ही आ जाए ?

२९. धीरे से बोलना चाहिए, जल्दी नहीं।

३०. जल्दी बोलने वाले के शरीर को भी कष्ट होता है, चित्त भी पीड़ित होता है, स्वर भी विकृत होता है, कण्ठ भी आतुर होता है, और जल्दी बोलने वाले की बात श्रोता के लिए अस्पष्ट एवं अविज्ञेय (समझ में न आने जैसी) होती है।

३१. राग, द्वेष एवं मोह का उपशम (शमन) होना ही परम आर्य उपशम है।

३२. भिक्षु, शांत मुनि न जन्मता है, न बुढियाता है और न मरता है।

३३. कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम जीवन—इनसे ही मनुष्य शुद्ध होते हैं गोत्र और धन से नहीं।

३४. जो कुछ उत्पन्न होता है, वह सब नष्ट भी होता है।

सुत्तपिटकः

संयुत्तनिकाय की सूक्तियां[1]

●

१. उपनीयति जीवितमप्पमायु,
जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एतं भयं मरणे पेक्खमानो,
पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि॥

—१।१।३

२. अच्चेन्ति काला तरयन्ति रत्तियो।
वयोगुणा अनुपुब्बं जहन्ति।
एतं भयं मरणे पेक्खमानो,
पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि॥

—१।१।४

३. येसं धम्मा असम्मुट्ठा, परवादेसु न नीयरे।
ते सम्बुद्धा सम्मदञ्ञा, चरन्ति विसमे समं॥

—१।१।८

४. अतीतं नानुसोचन्ति, नप्पजप्पन्ति नागतं।
पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति, तेन वण्णो पसीदति॥

—१।१।१०

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित नवनालन्दा संस्करण।

सुत्तपिटक :

संयुत्तनिकाय की सूक्तियां

●

१. जीवन बीत रहा है, आयु बहुत थोड़ी है, बुढ़ापे से बचने का कोई उपाय नहीं है। मृत्यु के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिएं।

२. समय गुजर रहा है, रातें बीत रही हैं, जिन्दगी के जमाने एक पर एक निकल रहे हैं, मृत्यु के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिएं।

३. जिन्होंने धर्मों को ठीक तरह जान लिया है, जो हर किसी मत पक्ष में बहकते नहीं हैं, वे सम्बुद्ध हैं, सब कुछ जानते हैं, विषम स्थिति में भी उनका आचरण सम रहता है।

४. बीते हुए का शोक नहीं करते, आने वाले भविष्य के मनसूबे नहीं बांधते, जो मौजूद है, उसी से गुजारा करते हैं, इसी से साधकों का चेहरा खिला रहता है।

५. अनागतप्पजप्पाय, अतीतस्सानुसोचना ।
एतेन बाला सुस्सन्ति, नलो व हरितो लुतो ॥
—१।१।१०

६. नत्थि पुत्तसमं पेमं, नत्थि गोसमितं धनं ।
नत्थि सुरियसमा आभा, समुद्दपरमा सरा ॥
नत्थि अत्तसमं पेमं, नत्थि धञ्ञसमं धनं ।
नत्थि पञ्ञा समा आभा, वुट्ठि वे परमा सरा ॥
—१।१।१३

७. सुस्सूसा सेट्ठा भरियानं, यो च पुत्तानमस्सवो ।
—१।१।१४

८. कतिहं चरेय्य सामञ्ञं, चित्तं चे न निवारये ।
पदे पदे विसीदेय्य, सङ्कप्पानं वसानुगो ॥
—१।१।१७

९. न ख्वाहं, आवुसो, सन्दिट्ठिकं हित्वा कालिकं अनुधावामि ।
—१।१।२०

१०. सन्दिट्ठिको अयं धम्मो अकालिको, एहिपस्सिको ।
ओपनयिको, पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहि ॥
—१।१।२०

११. छन्नो कालो न दिस्सति ।
—१।१।२०

१२. नाफुसन्तं फुसति, फुसन्तं च ततो फुसं ।
—१।१।२२

५. जो आने वाले भविष्य के मनसूबे बाँधते रहते हैं, बीते हुए का शोक करते रहते हैं, वे अज्ञानी लोग वैसे ही सूखते जाते हैं, जैसे कि हरा नरकट कट जाने के बाद।

६. पुत्र-जैसा कोई प्रिय नहीं है, गोधन-जैसा कोई धन नहीं है, सूर्य-जैसा कोई प्रकाश नहीं है, समुद्र सबसे महान् सर (जलराशि) है।[1]
अपने आप-जैसा कोई प्रिय नहीं है, धान्य-जैसा कोई धन नहीं है, प्रज्ञा-जैसा कोई प्रकाश नहीं है, वृष्टि सबसे महान जलराशि है।[2]

७. भार्याओं में सेवा करने वाली भार्या श्रेष्ठ है, और पुत्रों में वह जो आज्ञाकारी है।

८. कितने दिनों तक श्रामण्य (साधुत्व) को पालेगा, यदि अपने चित्त को वश में नहीं कर सका है। इच्छाओं के अधीन रहने वाला साधक पद-पद पर फिसलता रहेगा।

९. आवुस ! मैं प्रत्यक्ष वर्तमान को छोड़कर दूर भविष्य के पीछे नहीं दौड़ता हूँ।

१०. यह धर्म देखते-ही-देखते तत्काल जीते जी फल देने वाला है, बिना किसी देरी के। जिस के बारे में कहा जा सकता है कि आओ और स्वयं देख लो। जो ऊपर उठाने वाला है और जिसे प्रत्येक बुद्धिमान आदमी स्वयं प्रत्यक्ष कर सकता है।

११. काल छन्न है, ढँका हुआ है, अतः वह दीखता नहीं है।

१२. नहीं छूने वाले को नहीं छूता है, छूने वाले को ही छूता है। अर्थात् जिसकी कर्म के प्रति आसक्ति नहीं है, उसको उस कर्म का विपाक (फल) नहीं लगता है, आसक्तिपूर्वक कर्म करने वाले को ही कर्मविपाक (फल) का स्पर्श होता है।

१—श्रावस्ती में एक देवता की उक्ति।
२—प्रतिवचन में तथागत बुद्ध की उक्ति।

१३. यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति,
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।
तमेव बालं पच्चेति पापं,
सुखमं रजो पटिवातं व खित्तो ॥

—१।१।२२

१४. यतो यतो मनो निवारये,
न दुक्खमेति नं ततो ततो ।
स सब्बतो मनो निवारये,
स सब्बतो दुक्खा पमुच्चति ॥

—१।१।२४

१५. न सब्बतो मनो निवारये,
न मनो संयतत्तमागतं ।
यतो यतो च पापकं,
ततो ततो मनो निवारये ॥

—१।१।२४

१६. पहीनमानस्स न सन्ति गन्था ।

—१।१।२५

१७. सब्भिरेव समासेथ, सब्भि कुब्बेथ सन्थवं ।
सतं सद्धम्ममञ्ञाय, पञ्ञा लब्भति नाञ्ञतो ॥

—१।१।३१

१८. मच्छेरा च पमादा च, एवं दानं न दीयति ।

—१।१।३२

१९. ते मतेसु न मीयन्ति, पन्थानं व सहब्बजं ।
अप्पस्मि ये पवेच्छन्ति, एस धम्मो सनन्तनो ॥

—१।१।३२

२०. अप्पस्मा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन समं मिता ।

—१।१।३२

१३. जो शुद्ध, निष्पाप, निर्दोष व्यक्ति पर दोष लगाता है, उसी अज्ञानी जीव पर वह सब पाप पलटकर वैसे ही आ जाता है, जैसे कि सामने की हवा में फेंकी गयी सूक्ष्म धूल।

देवता ने कहा—

१४. जो व्यक्ति जहाँ जहाँ से मन को हटा लेता है, वहाँ वहाँ से फिर उसको दुःख नहीं होता। जो सभी जगह से मन को हटा लेता है, वह सभी जगह दुःख से छूट जाता है।

१५. तथागत बुद्ध ने उत्तर दिया—

सभी जगह से मन को हटाना आवश्यक नहीं है, यदि मन अपने नियंत्रण में आ गया है तो। जहाँ जहाँ भी पाप है, बस वहाँ वहाँ से ही मन को हटाना है।

१६. जिनका अभिमान प्रहीण हो गया है, उन्हें कोई गाँठ नहीं रहती।

१७. सत्पुरुषों के ही साथ बैठे, सत्पुरुषों के ही साथ मिले-जुले; सत्पुरुषों के अच्छे धर्मों (कर्तव्यों) को जानने से ही प्रज्ञा (सम्यग् ज्ञान) प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं।

१८. मात्सर्य और प्रमाद से दान नहीं देना चाहिए।

१९. वे मरने पर भी नहीं मरते हैं, जो एक पथ से चलते हुए सहयात्रियों की तरह थोड़ी से थोड़ी चीज को भी आपस में बाँट कर खाते हैं। यह पारस्परिक सहयोग ही सनातन धर्म है।

२०. थोड़े में से भी जो दान दिया जाता है, वह हजारों-लाखों के दान की बराबरी करता है।

२१. सद्धा हि दानं बहुधा पसत्थं,
दाना च खो धम्मपदं व सेय्यो ।

—१।१।३३

२२. छन्दजं अघं, छन्दजं दुक्खं,
छन्दविनया अघविनयो, अघविनया दुक्खविनयो ।

—१।१।३४

२३. न ते कामा यानि चित्रानि लोके,
सङ्कप्परागो पुरिसस्स कामो ।

—१।१।३४

२४. अच्चयं देसयन्तीनं, यो चे न पटिगण्हति ।
कोपंतरो दोसगरु, स वेरं पटिमुञ्चति ।।

—१।१।३५

२५. हीनत्थरूपा न पारंगमा ते ।

—१।१।३८

२६. अन्नदो बलदो होति, वत्थदो होति वण्णदो ।

—१।१।४२

२७. सो च सब्बददो होति, यो ददाति उपस्सयं ।
अमतंददो च सो होति, यो धम्ममनुसासति ।।

—१।१।४२

२८. अथ को नाम सो यक्खो, यं अन्नं नाभिनन्दति ।

—१।१।४३

२९. पुञ्ञानि परलोकस्मिं, पतिट्ठा होन्ति पाणिनं ।

—१।१।४३

३०. किंसु याव जरा साधु, किंसु साधु पतिट्ठितं ?
किंसु नरानं रतनं, किंसु चोरेहि दूहरं ?
सीलं याव जरा साधु, सद्धा साधु पतिट्ठिता ।
पञ्ञा नरानं रतनं, पुञ्ञं चोरेहि दूहरं ।।

—१।१।५१

२१. श्रद्धा से दिये जाने वाले दान की बड़ी महिमा है।
दान से भी बढ़कर धर्म के स्वरूप को जानना है।

२२. इच्छा बढ़ने से पाप होते हैं, इच्छा बढ़ने से दुःख होते हैं।
इच्छा को दूर करने से पाप दूर हो जाता है, पाप दूर होने से दुःख दूर हो जाते हैं।

२३. संसार के सुन्दर पदार्थ काम नहीं हैं, मन में राग का हो जाना ही वस्तुतः काम है।

२४. अपना अपराध स्वीकार करने वालों को जो क्षमा नहीं करता है, वह भीतर ही भीतर क्रोध रखने वाला महा द्वेषी, वैर को और अधिक बाँध लेता है।

२५. हीन (क्षुद्र) लक्ष्य वाले पार नहीं जा सकते।

२६. अन्न देने वाला बल देता है, वस्त्र देने वाला वर्ण (रूप) देता है।

२७. वह सब कुछ देने वाला होता है, जो उपाश्रय (स्थान, गृह) देता है और जो धर्म का उपदेश करता है, वह अमृत देने वाला होता है।

२८. भला ऐसा कौन सा प्राणी है, जिसे अन्न प्यारा न लगता हो?

२९. परलोक में केवल पुण्य ही प्राणियों का आधार (सहारा) होता है।

देवताः—

३०. कौन सी चीज ऐसी है जो बुढ़ापे तक ठीक है? स्थिरता पाने के लिए क्या ठीक है? मनुष्यों का रत्न क्या है? चोरों से क्या नहीं चुराया जा सकता?

बुद्धः—

शील (सदाचार) बुढ़ापे तक ठीक है, स्थिरता के लिए श्रद्धा ठीक है, प्रज्ञा मनुष्यों का रत्न है, पुण्य चोरों से नहीं चुराया जा सकता।

३१. सत्थो पवसतो मित्तं, माता मित्तं सके घरे।....
सयं कतानि पुञ्ञानि, तं मित्तं सांपरायिकं।

—१।१।५३

३२. पुत्ता वत्थु मनुस्सानं, भरिया च परमो सखा।

—१।१।५४

३३. तण्हा जनेति पुरिसं।

—१।१।५६

३४. तपो च ब्रह्मचरियं च तं सिनानमनोदकं।

—१।१।५८

३५. सद्धा दुतिया पुरिसस्स होति, पञ्ञा चेनं पसासति।

—१।१।५९

३६. चित्तेन नीयति लोको।

—१।१।६२

३७. तण्हाय विप्पहानेन, सब्बं छिन्दति बंधनं।

—१।१।६५

३८. मच्चुनाऽभाहतो लोको, जराय परिवारितो।

—१।१।६६

३९. राजा रट्ठस्स पञ्ञाणं, भत्ता पञ्ञाणमित्थिया।

—१।१।७२

४०. विज्जा उप्पततं सेट्ठं, अविज्जा निपततं परा।

—१।१।७४

४१. लोभो धम्मानं परिपन्थो।

—१।१।७६

४२. आलस्यं च पमादो च, अनुट्ठानं असंयमो।
निद्दा तन्दा च ते छिद्दे, सब्बसो तं विवज्जये॥

—१।१।७६

३१. हथियार राहगीर का मित्र है, माता अपने घर का मित्र है....अपने किए पुण्य कर्म ही परलोक के मित्र हैं।

३२. पुत्र मनुष्यों का आधार है; भार्या (पत्नी) सब से बड़ा मित्र है।

३३. तृष्णा मनुष्य को पैदा करती है।

३४. तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है।

३५. श्रद्धा पुरुष का साथी है, प्रज्ञा उस पर नियंत्रण करती है।

३६. चित्त से ही विश्व नियंत्रित होता है।

३७. तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सब बन्धन स्वयं ही कट जाते हैं।

३८. संसार मृत्यु से पीडित है, जरा से घिरा हुआ है।

३९. राजा राष्ट्र का प्रज्ञान (पहचान—चिन्ह) है, पत्नी पति का प्रज्ञान है।

४०. ऊपर उठने वालों में विद्या सबसे श्रेष्ठ है, गिरने वालों में अविद्या सबसे बड़ी है।

४१. लोभ धर्मकार्य का बाधक है।

४२. आलस्य, प्रमाद, उत्साहहीनता, असंयम, निद्रा और तन्द्रा—ये छह जीवन के छिद्र हैं, इन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

४३ अत्तानं न ददे पोसो, अत्तानं न परिच्चजे ।
—१।१।७८

४४. वुट्ठि अलसं अनलसं च, माता पुत्तं व पोसति ।
—१।१।८०

४५. कतकिच्चो हि ब्राह्मणो ।
—१।२।५

४६. अरियानं समो मग्गो, अरिया हि विसमे समा ।
—१।२।६

४७. कयिरा चे कयिराथेनं, दल्हमेनं परक्कमे ।
सिथिलो हि परिब्बाजो, भिय्यो आकिरते रजं ॥
—१।२।८

४८. अकतं दुक्कटं सेय्यो, पच्छा तपति दुक्कटं ।
कतं च सुकतं सेय्यो, यं कत्वा नानुतप्पति ॥
—१।२।८

४९. कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थमेवानुकंतति ।
—१।२।८

५०. सतं च धम्मो न जरं उपेति ।
—१।३।३

५१. अत्तानं चे पियं जञ्ञा, न नं पापेन संयुजे ।
—१।३।४

५२. उभो पुञ्ञं च पापं च, यं मच्चो कुरुते इध ।
तं हि तस्स सकं होति, तं व आदाय गच्छति ॥
—१।३।४

५३. हन्ता लभति हन्तारं, जेतारं लभते जयं ।
—१।३।१५

५४. इत्थी पि हि एकच्चिया, सेय्या पोस जनाधिप !
—१।३।१६

४३. साधक अपने को न दे डाले, अपने को न छोड़ दे।

४४. वृष्टि आलसी और उद्योगी—दोनों का ही पोषण करती है, माता जैसे पुत्र का।

४५. कृतकृत्य (जो अपने कर्तव्य को पूरा कर चुका हो) ही ब्राह्मण होता है।

४६. आर्यों के लिए सभी मार्ग सम हैं, आर्य विषम स्थिति में भी सम रहते हैं।

४७. यदि कोई कार्य करने जैसा है तो उसे दृढ़ता के साथ कर लेना चाहिए। जो साधक अपने उद्देश्य में शिथिल है वह अपने ऊपर और भी अधिक मैल चढ़ा लेता है।

४८. बुरी तरह करने से न करना अच्छा है, बुरी तरह करने से पछताना पड़ता है। जो करने जैसा हो उसे अच्छी तरह करना ही अच्छा है, अच्छी तरह करने पर पीछे पछतावा नहीं होता।

४९. अच्छी तरह न पकड़ा हुआ कुश हाथ को ही काट डालता है।

५०. सत्पुरुषों का धर्म कभी पुराना नहीं होता।

५१. जिस को अपनी आत्मा प्रिय है, वह अपने को पाप में न लगाए।

५२. मनुष्य यहाँ जो भी पाप और पुण्य करता है, वही उसका अपना होता है। उसे ही लेकर परलोक में जाता है।

५३. मारने वाले को मारने वाला मिलता है, जीतने वाले को जीतने वाला।

५४. हे राजन् ! कुछ स्त्रियाँ पुरुषों से भी बढ़कर होती हैं।

५५. चित्तस्मि वसीभूतम्हि, इद्धिपादा सुभाविता ।

—१।५।५

५६. फलं वे कदलिं हन्ति, फलं वेलुं, फलं नलं ।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति, गब्भो अस्सतरिं यथा ।

—१।६।१२

५७. जयं चेवस्स तं होति, या तितिक्खा विजानतो ।

—१।७।३

५८. मा जातिं पुच्छ, चरणं च पुच्छ । कट्ठाहवे जायति जातवेदो ।

—१।७।९

५९. नेसा सभा यत्थ न सन्ति सन्तो,
संतो न ते ये न वदन्ति धम्मं ।
रागं च दोसं च पहाय मोहं,
धम्मं वदन्ता च भवन्ति सन्तो ।

१।७।२२

६०. धम्मं भणे, नाधम्मं,
पियं भणे, नापियं,
सच्चं भणे, नालिकं ।

—१।८।६

६१. मिय्यो बाला पभिज्जेय्युं, नो चस्स पटिसेधको ।

—१।११।४

६२. यो हवे बलवा सन्तो, दुब्बलस्स तितिक्खति ।
तमाहु परमं खन्ति, निच्चं खमति दुब्बलो ।।

—१।११।४

६३. अबलं तं बलं आहु, यस्स बालबलं बलं ।

—१।११।४

६४. यादिसं वपते बीजं, तादिसं हरते फलं ।

—१।११।१०

५५. चित्त के वशीभूत हो जाने पर ऋद्धियां स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं।

५६. जिस प्रकार केले का फल केले को, बांस का फल बांस को और नरकट का फल नरकट को, खच्चरी का अपना ही गर्भ खच्चरी को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सत्कार सम्मान कापुरुष (क्षुद्र व्यक्ति) को नष्ट कर देता है।

५७. आखिर विजय उसीकी होती है, जो चुपचाप सहन करना जानता है।

५८. जाति मत पूछो, कर्म पूछो। लकड़ी से भी आग पैदा हो जाती है।

५९. वह सभा सभा नहीं, जहाँ संत नही, और वे संत संत नहीं, जो धर्म की बात नहीं कहते। राग, द्वेष और मोह को छोड़कर धर्म का उपदेश करने वाले ही संत होते हैं।

६०. धर्म कहना चाहिए, अधर्म नहीं।
प्रिय कहना चाहिए, अप्रिय नही।
सत्य कहना चाहिए, असत्य नही।

६१. मूर्ख अधिकाधिक भूलों की ओर बढ़ते ही जाते हैं, यदि उन्हें कोई रोकने वाला नहीं होता है तो !

६२. जो स्वयं बलवान् होकर भी दुर्बल की बातें सहता है, उसी को सर्वश्रेष्ठ क्षमा कहते हैं।

६३. वह बली निर्बल कहा जाता है, जिसका बल मूर्खों का बल है।

६४. जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है।

६५. द्वेमे, भिक्खवे, बाला। यो च अच्चयं अच्चयतो न पस्सति,
यो च अच्चयं देसेंतस्स यथाधम्मं नप्पटिग्गण्हाति।

—१।११।२४

६६. का च, भिक्खवे, सुखस्स उपनिसा ? पस्सद्धी।
का च, भिक्खवे, पस्सद्धिया उपनिसा ? पीती।

—२।१२।२३

६७. ये तण्हं वड्ढेंति ते उपधिं वड्ढेंति।
ये उपधिं वड्ढेंति ते दुक्खं वड्ढेंति॥

—२।१२।६६

६८. संसग्गा वनथो जातो, असंसग्गेन छिज्जति।

—२।१४।१६

६९. अस्सद्धा अस्सद्धेहि सद्धिं संसन्दन्ति, समेन्ति,
अहिरिका अहिरिकेहि सद्धिं संसन्दन्ति समेन्ति।
अप्पस्सुता अप्पस्सुतेहि सद्धिं, संसन्दन्ति समेन्ति,
कुसीता कुसीतेहि सद्धिं, संसन्दन्ति समेन्ति॥

—२।१४।१७

७०. यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता।
यदनत्ता तं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता॥

—४।३५।१

७१. फस्सेन फुट्ठो न सुखेन मज्जे,
दुक्खेन फुट्ठो पि न सम्पवेधे।

—४।३५।९४

७२. मनोमयं गेहसितं च सब्बं।

—४।३५।९४

७३. दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति, सुते सुतमत्तं भविस्सति....
विञ्ञाते विञ्ञातमत्तं भविस्सति।

—४।३५।९५

६५. भिक्षुओ ! दो प्रकार के मूर्ख होते हैं—एक वह जो अपने अपराध को अपराध के तौर पर नहीं देखता है, और दूसरा वह जो दूसरे के अपराध स्वीकार कर लेने पर भी क्षमा नहीं करता है।

६६. भिक्षुओ ! सुख का हेतु क्या है ? शान्ति (प्रश्रब्धि) है,
भिक्षुओ ! शान्ति का हेतु क्या है ? प्रीति है।

६७. जो तृष्णा को बढ़ाते हैं, वे उपाधि को बढ़ाते हैं। जो उपाधि को बढ़ाते वे दुःख को बढ़ाते हैं।

६८. संसर्ग से पैदा हुआ राग का जंगल असंसर्ग से काट दिया जाता है।

६९. श्रद्धाहीन श्रद्धाहीनों के साथ, निर्लज्ज निर्लज्जों के साथ, मूर्ख मूर्खों के साथ और निकम्मे आलसी निकम्मे आलसियों के साथ उठते-बैठते हैं, मेल जोल रखते हैं।

७०. जो अनित्य है वह दुःख है, जो दुःख है वह अनात्मा है, और जो अनात्मा है—वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरा आत्मा है।

७१. सुख-स्पर्श से मतवाला न बने, और दुःख-स्पर्श से कांपने न लगे।

७२. यह सारा गृह बन्धन अर्थात् संसार मन पर ही खड़ा है।

७३. ज्ञानी साधक को देखने में देखना भर होगा, सुनने में सुनना भर होगा,....जानने में जानना भर होगा, अर्थात् वह रूपादि का ज्ञाता द्रष्टा होगा, उनमें रागासक्त नहीं।

७४. न सो रज्जति रूपेसु, रूपं दिस्वा पटिस्सतो।
विरत्तचित्तो वेदेति, तं च नाज्झोस तिट्ठति॥
यथास्स पस्सतो रूपं, सेवतो चापि वेदनं।
खीयति नोपचीयति, एवं सो चरती सतो॥

—४।३५।९५

७५. पमुदितस्स पीति जायति,
पीतिमनस्स कायो पस्सम्भति;
पस्सद्धकायो सुखं विहरति।

—४।३५।९७

७६. सुखिनो चित्तं समाधीयति,
समाहिते चित्ते धम्मा पातुभवन्ति।

—४।३५।९७

७७. यं भिक्खवे, न तुम्हाकं तं पजहथ।
तं वो पहीनं हिताय सुखाय भविस्सति॥

—४।३५।१०१

७८. न चक्खु रूपानं संयोजनं, न रूपा चक्खुस्स संयोजनं।
यं च तत्थ तदुभयं पटिच्च उपज्जति छन्दरागो तं तत्थ संयोजनं।

—४।३५।२३२

७९. सद्धाय खो, गहपति, ञाणं येव पणीततरं।

४।४१।८

८०. यो खो, भिक्खु,
रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो-इन्द वुच्चति अमतं।

५।४५।७

८१. जराधम्मो योब्बञ्ञे, व्याधिधम्मो आरोग्ये,
मरण धम्मो जीविते।

५।४८।४१

७४. अप्रमत्त साधक रूपों में राग नहीं करता, रूपों को देखकर स्मृतिमान् रहता है, विरक्त चित्त से वेदन करता है, उनमें असग्न—अनासक्त रहता है।

अतः रूप को देखने और जानने पर भी उसका राग एवं बन्धन घटता ही है, बढ़ता नहीं, क्योंकि वह स्मृतिमान् होकर विचरता है।

७५. प्रमोद होने से प्रीति होती है, प्रीति होने से शरीर स्वस्थ रहता है और शरीर स्वस्थ होने से सुखपूर्वक विहार होता है।

७६. सुखी मनुष्य का चित्त समाधिलाभ करता है, और समाहित चित्त में धर्म प्रादुर्भूत होते हैं।

७७. भिक्षुओ ! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो। उसको छोड़ने से ही तुम्हारा हित होगा,, सुख होगा।

[जो रागादि परभाव हैं, वे आत्मा के अपने नहीं हैं।]

७८. न तो चक्षु रूपों का बन्धन है और न रूप ही चक्षु के बन्धन हैं। किन्तु जो वहाँ दोनों के प्रत्यय (निमित्त) से छन्दराग उत्पन्न होता है, वस्तुतः वही बन्धन है।

७९. गृहपति ! श्रद्धा से ज्ञान ही बड़ा है।

८०. हे भिक्षु ! राग, द्वेष और मोह का क्षय होना ही अमृत है।

८१. यौवन में वार्धक्य (बुढ़ापा) छिपा है, आरोग्य में रोग छिपा है और जीवन मे मृत्यु छिपी है।

सुत्तपिटक :

[1]अंगुत्तरनिकाय की सूक्तियां

●

१. चित्तं, भिक्खवे, रक्खितं महतो अत्थाय संवत्तति ।

—१।४।६

२. कोसज्जं, भिक्खवे, महतो अनत्थाय संवत्तति ।

—१।१०।३

३. विरियारम्भो, भिक्खवे, महतो अत्थाय संवत्तति ।

—१।१०।४

४. मिच्छादिट्ठिकस्स, भिक्खवे,
द्विन्नं गतीनं अञ्ञतरा पाटिकंख-निरयो वा तिरच्छानयोनि वा ।

—२।३।७

५. सम्मादिट्ठिकस्स, भिक्खवे,
द्विन्नं गतीनं अञ्ञतरा गति पाटिकंखा—
देवा वा मनुस्सा वा ।

—२।३।८

६. द्वेमानि, भिक्खवे, सुखानि ।
कतमानि द्वे ?
कायिकं च सुखं, चेतसिकं च सुखं ।....
एतदग्गं, भिक्खवे, इमेसं द्विन्नं सुखानं यदिदं चेतसिकं सुखं ।

—२।७।७

---

[1] भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित नवनालन्दा संस्करण ।

सुत्तपिटक :

अंगुत्तरनिकाय की सूक्तियां

●

१. भिक्षुओ ! सुरक्षित चित्त महान् अर्थ=लाभ के लिए होता है।

२. भिक्षुओ ! आलस्य बड़े भारी अनर्थ (हानि) के लिए होता है।

३. भिक्षुओ ! वीर्यारम्भ (उद्योगशीलता) महान् अर्थ की सिद्धि के लिए होता है।

४. भिक्षुओ ! मिथ्यादृष्टि की इन दो गतियों में से कोई भी एक गति होती है—नरक अथवा तिर्यंच।

५ भिक्षुओ ! सम्यग् दृष्टि आत्मा की इन दो गतियों में से कोई भी एक गति होती है देव अथवा मनुष्य।

६. भिक्षुओ ! दो सुख हैं।
कौन से दो ?
कायिक सुख और मानसिक सुख।
....भिक्षुओ ! इन दो सुखों में मानसिक सुख अग्र है, मुख्य है।

७. द्वेमा, भिक्खवे, आसा दुप्पजहा।
कतमा द्वे ?
लाभासा च जीवितासा च।

—२।११।१

८. द्वेमे, भिक्खवे, पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं।
कतमे द्वे ?
यो च पुब्बकारी, यो च कतञ्ञू कतवेदी।

—२।११।२

९. द्वेमे, भिक्खवे, पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं।
कतमे द्वे ?
तित्तो च तप्पेता च।

—२।११।३

१०. द्वेमानि, भिक्खवे, दानानि।
कतमानि द्वे ?
आमिसदानं च धम्मदानं च।
....एतदग्गं, भिक्खवे, इमेसं द्विन्नं दानानं यदिदं धम्मदानं।

—२।१३।१

११. तीहि भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो बालो वेदितब्बो।
कतमेहि तीहि ?
कायदुच्चरितेन, वचीदुच्चरितेन, मनोदुच्चरितेन।

—३।१।२

१२. निहीयति पुरिसो निहीनसेवी,
न च हायथ कदाचि तुल्यसेवी।
सेट्ठमुपनमं उदेति खिप्पं,
तस्मा अत्तनो उत्तरिं भजेथा॥

—३।३।६

१३. नत्थि लोके रहो नाम, पापकम्मं पकुब्बतो।
अत्ता ते पुरिस जानाति, सच्चं वा यदि वा मुसा॥

३।४।१०

७. भिक्षुओ ! दो आशाएँ (इच्छाएँ) बड़ी कठिनता से छूटती हैं।
कौन सी दो ?
लाभ की आशा, और जीवन की आशा।

८. भिक्षुओ ! संसार में दो व्यक्ति दुर्लभ हैं।
कौन से दो ?
एक वह जो पहले उपकार करता है, दूसरा वह कृतज्ञ जो किए हुए उपकार को मानता है।

९. भिक्षुओ ! संसार मे दो व्यक्ति दुर्लभ है !
कौन से दो ?
एक वह जो स्वयं तृप्त है=सन्तुष्ट है, और दूसरा वह जो दूसरों को तृप्त=सन्तुष्ट करता है।

१०. भिक्षुओ ! दो दान हैं।
कौन से दो ?
भोगों का दान और धर्म का दान।
....भिक्षुओ ! उक्त दोनों दानों मे धर्म का दान (धर्मोपदेश) ही श्रेष्ठ है।

११. भिक्षुओ ! तीन धर्मों (कर्मों) से व्यक्ति को बाल (अज्ञानी) समझना चाहिए।
कौन से तीन ?
काय के बुरे आचरण से, वचन के बुरे आचरण से और मन के बुरे आचरण से।

१२. अपने से शील और प्रज्ञा से हीन व्यक्ति के संग से मनुष्य हीन हो जाता है, बराबर वाले के संग से हीन नहीं होता है, ज्यों का त्यों रहता है। अपने से श्रेष्ठ के संग से शीघ्र ही मनुष्य का उदय—विकास होता है, अतः सदा श्रेष्ठ पुरुषों का ही संग करना चाहिए।

१३. हे पुरुष ! तेरी आत्मा तो जानती है कि क्या सत्य है और क्या असत्य है ? अतः पापकर्म करने वाले के लिए एकान्त गुप्त (छुपाव) जैसी कोई स्थिति नहीं है।

१४. दिन्नं होति सुनीहतं ।

—३।६।२

१५. यो खो, वच्छ, परं दानं ददन्तं वारेति
सो तिण्णं अन्तरायकरो होति, तिण्णं पारिपन्थिको ।
कतमेसं तिण्णं ?
दायकस्स पुञ्ञन्तरायकरो होति, पटिग्गाहकानं लाभन्तरायकरो
होति, पुब्बेव खो पनस्स अत्ता खतो च होति उपहतो च ।

—३।६।७

१६. धीरो हि अरतिस्सहो ।

—४।३।८

१७. गमनेन न पत्तब्बो, लोकस्सन्तो कुदाचनं ।
न च अप्पत्वा लोकन्तं, दुक्खा अत्थि पमोचनं ॥

—४।५।६

१८. उभो च होन्ति दुस्सीला, कदरिया परिभासका ।
ते होन्ति जानिपतयो छवा संवासमागता ॥

—४।६।३

१९. सब्बा ता जिम्हं गच्छन्ति, नेत्ते जिम्ह गते सति ।

—४।७।१०

२०. सब्बं रट्ठं दुक्खं सेति, राजा चे होति अधम्मिको ।
सब्बं रट्ठं सुखं सेति, राजा चे होति धम्मिको ।

—४।७।१०

२१. एकच्चो पुग्गलो दुस्सीलो होति पापधम्मो,
परिसा पिस्स होति दुस्सीला पापधम्मा ।
एवं खो, भिक्खवे, पुग्गलो असुरो होति असुरपरिवारो ।

—४।१०।१

२२. एकच्चो पुग्गलो सीलवा होति कल्याणधम्मो,
परिसा पिस्स होति सीलवती कल्याणधम्मा ।
एवं खो, भिक्खवे, पुग्गलो देवो होति, देवपरिवारो ।

—४।१०।१

१४. दिया हुआ ही सुरक्षित रहता है।

१५. वत्स ! दान देते हुए दूसरे को जो रोकता है, वह तीन का अन्तराय करता है, तीन का परिपन्थी—विरोधी शत्रु होता है।
कौन से तीन का ?
दाता को पुण्य का अन्तराय करता है, गृहीता को लाभ का अन्तराय करता है, और सबसे पहले अपनी आत्मा को क्षत एवं उपहत करता है।

१६. धीर पुरुष ही अरति को सहन कर सकते हैं।

१७. गमन के द्वारा कभी भी लोक का अन्त नहीं मिलता है, और जब तक लोक का अन्त नहीं मिलता है, तब तक दुःख से छुटकारा नहीं होता।
[तृष्णा का अन्त ही लोक का अन्त है।]

१८. यदि पति और पत्नी दोनों ही दुराचारी, कृपण एवं कटुभाषी हैं, तो यह एक प्रकार से दो शवों (मुर्दों) का समागम है।

१९. नेता के कुटिल चलने पर सब के सब अनुयायी भी कुटिल ही चलने लगते हैं।

२०. राजा यदि अधार्मिक होता है तो सारा का सारा राष्ट्र दुःखित हो जाता है। और यदि राजा धार्मिक होता है, तो सारा का सारा राष्ट्र सुखी हो जाता है।

२१. एक व्यक्ति स्वयं दुःशील है, पापी है, और उसके संगी साथी भी दुःशील एवं पापी हैं, तो भिक्षुओ, वह व्यक्ति असुर है और असुरपरिवार वाला है।

२२. एक व्यक्ति स्वयं सदाचारी है, धर्मात्मा है, और उसके संगी—साथी भी सदाचारी एवं धर्मात्मा हैं, तो वह व्यक्ति देव है और देवपरिवार वाला है।

२३. चत्तारिमानि, भिक्खवे, बलानि।
कतमानि चत्तारि ?
पञ्ञाबलं, विरियबलं, अनवज्जबलं, संगहबलं।

—४।१६।३

२४. मनापदायी लभते मनापं।

—५।५।४

२५. दलिद्दो इणमादाय, भुञ्जमानो विहञ्ञति।

—६।५।३

२६. दोसस्स पहानाय मेत्ता भावितब्बा।
मोहस्स पहानाय पञ्ञा भावितब्बा॥

—६।११।१

२७. सद्धाधनं, सीलधनं, हिरी ओत्तप्पियं धनं।
सुतधनं च चागो च, पञ्ञा वे सत्तमं धनं॥
यस्स एते धना अत्थि, इत्थिया पुरिसस्स वा।
अदलिद्दोति तं आहु, अमोघं तस्स जीवितं॥

—७।१।५

२८. अदण्डेन असत्थेन, विजेय्य पथविं इमं।

—७।६।६

२९. ञातिमित्ता सुहज्जा च, परिवज्जन्ति कोधनं।

—७।६।११

३०. कोधनो दुब्बण्णो होति।

—७।६।११

३१. समिद्धि किं सारा ?
विमुत्तिसारा !

—९।२।४

३२. अनभिरति खो, आवुसो, इमस्मिं धम्मविनये दुक्खा,
अभिरति सुखा।

—१०।७।६

२३. भिक्षुओ ! चार बल हैं ?
कौन से चार ?
प्रज्ञा का बल, वीर्य = शक्ति का बल, अनवद्य = सदाचार का बल और संग्रह का बल ।

२४. मनोनुकूल सुन्दर वस्तु दान में देने वाला वैसी ही मनोज्ञ सामग्री प्राप्त करता है ।

२५. दरिद्र व्यक्ति यदि ऋण लेकर भोगो-पभोग में पड़ जाता है, तो वह नष्ट हो जाता है ।

२६. द्वेष को दूर करने के लिए मैत्री भावना करनी चाहिए । मोह को दूर करने के लिए प्रज्ञा भावना (अध्यात्म चिन्तन) करनी चाहिए ।

२७. श्रद्धा, शील, लज्जा, संकोच, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा—ये सात धन हैं । जिस स्त्री या पुरुष के पास ये धन हैं, वही वास्तव में अदरिद्र (धनी) है, उसीका जीवन सफल है ।

२८. बिना किसी दण्ड और शस्त्र के पृथ्वी को जीतना चाहिए ।

२९. क्रोधी को ज्ञाति जन, मित्र और सुहृद् सभी छोड़ देते हैं ।

३०. क्रोधी कुरूप हो जाता है ।

३१. समृद्धि का सार क्या है ?
विमुक्ति (अनासक्ति) ही सार है ।

३२. आवुस ! धर्माचरण में अरति का होना दुःख है, और अभिरति का होना सुख है ।

३३. अयमेव महत्तरो कलि, यो सुगतेसु मनं पदूसये ।

—१०।६।६

३४. मिच्छादिट्ठि खो, ब्राह्मण, ओरिमं तीरं,
सम्मादिट्ठि पारिमं तीरं ।
मिच्छासंकप्पो ओरिमं तीरं, सम्मासंकप्पो पारिमं तीरं ।
मिच्छावाचा ओरिमं तीरं, सम्मावाचा पारिमं तीरं ।
मिच्छाकम्मन्तो ओरिमं तीरं, सम्माकम्मन्तो पारिमं तीरं ।

—१०।१२।५

३५. मिच्छाञाणं, भिक्खवे, अधम्मो,
सम्माञाणं धम्मो ।

—१०।१२।४

३६. चित्तन्तरो अयं, भिक्खवे, मच्चो ।

—१०।२१।६

३३. श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति द्वेष रखना सबसे बड़ा पाप है।

३४. हे ब्राह्मण, मिथ्यादृष्टि इधर का किनारा है, सम्यग् दृष्टि उधर का किनारा है।
मिथ्या संकल्प इधर का किनारा है, सम्यक् संकल्प उधर का किनारा है।
मिथ्यावाणी इधर का किनारा है, सम्यक् वाणी उधर का किनारा है।
मिथ्या कर्म इधर का किनारा है, सम्यक् कर्म उधर का किनारा है।

३५. भिक्षुओ ! मिथ्याज्ञान अधर्म है, सम्यग् ज्ञान धर्म है।

३६. भिक्षुओ ! मनुष्य मन में रहता है।

सुत्तपिटक :

धम्मपद की सूक्तियां

●

१. मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं॥

—१।१

२. मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनि॥

—१।२

३. नहि वेरेण वेराणि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेण च सम्मन्ती, एस धम्मो सनन्तनो।

—१।५

४. यथागारं सुच्छन्नं, वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति॥

—१।१४

५. पापकारी उभयत्थ सोचति।

—१।१५

सुत्तपिटक :

धम्मपद की सूक्तियां

●

१. सभी धर्म (वृत्तियाँ) पहले मन मे पैदा होते है, मन ही मुख्य है, सब कुछ मनोमय है। यदि कोई व्यक्ति दूषित मन से कुछ बोलता है, करता है, तो दुःख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि पहिया (चक्र) गाडी खींचने वाले बैलों के पैरों का।

२. सभी धर्म (वृत्तियाँ) पहले मन मे पैदा होते हैं, मन ही मुख्य है, सब कुछ मनोमय है। यदि कोई निर्मल मनसे कुछ बोलता है या करता है तो सुख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि कभी साथ नहीं छोड़ने वाली छाया मनुष्य का अनुसरण करती है।

३. वैर से वैर कभी शांत नहीं होते। अवैर (प्रेम) से ही वैर शांत होते हैं—यही शाश्वत नियम है।

४. अच्छी तरह छाए हुए मकान में वर्षा का पानी आसानी से प्रवेश नहीं कर पाता, ठीक वैसे ही सुभावित (साधे हुए) चित्त में राग का प्रवेश नहीं हो सकता।

५. पाप करने वाला लोक-परलोक दोनों जगह शोक करता है।

६. कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति ।

—१।१६

७. बहुं पि चे सहितं भासमानो,
न तक्करो होति नरो पमत्तो ।
गोपो व गावं गणयं परेसं,
न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥

—१।१९

८. अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं ।

—२।१

९. अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो ।

—२।१०

१०. चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं ।

—३।२

११. न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं ।
अत्तनो व अवक्खेय्य, कतानि अकतानि च ॥

—४।७

१२ सीलगन्धो अनुत्तरो ।

—४।१२

१३. दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं ।
दीघो बालानं संसारो, सद्धम्मं अविजानतं ॥

—५।१

१४. यावजीवम्पि चे बालो, पण्डितं पयिरुपासति ।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा ॥

—५।५

१५. मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरुपासति ।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरसं यथा ॥

—५।६

६. जिसने सत्कर्म (पुण्य) कर लिया है, वह दोनों लोक में सुखी होता है।

७. बहुत सी धर्म-संहिताओं का पाठ करने वाला भी यदि उनके अनुसार आचरण नहीं करता है, तो वह प्रमादी मनुष्य उनके लाभ को प्राप्त नहीं कर सकता, वह श्रमण नहीं कहला सकता, जैसे कि दूसरों की गायों को गिनने वाला ग्वाला गायों का मालिक नहीं हो सकता।

८. अप्रमाद अमरता का मार्ग है, प्रमाद मृत्यु का।

९. अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ माना गया है।

१०. चंचल चित्त का दमन करना अच्छा है, दमन किया हुआ चित्त सुखकर होता है।

११. दूसरे की त्रुटियां नही देखनी चाहिएं, उसके कृत्य-अकृत्य के फेर मे नहीं पड़ना चाहिए। अपनी ही त्रुटियों का, तथा कृत्य-अकृत्य का विचार करना चाहिए।

१२. शील (सदाचार) की सुगन्ध सबसे श्रेष्ठ है।

१३. जागते हुए को रात लंबी होती है, थके हुए को एक योजन भी बहुत लम्बा होता है, वैसे ही सद्धर्म को नहीं जानने वाले अज्ञानी का संसार बहुत दीर्घ होता है।

१४. मूर्ख व्यक्ति जीवनभर पंडित के साथ रहकर भी धर्म को नहीं जान पाता, जैसे कि कलछी सूप (दाल) के रस को।

१५. विज्ञ पुरुष एक मुहूर्तभर भी पंडित की सेवा में रहे तो वह शीघ्र ही धर्म के तत्त्व को जान लेता है, जैसे कि जीभ सूप के रस (स्वाद) को।

१६. न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुतप्पति ।

—५।८

१७. न हि पापं कतं कम्मं, सज्जु खीरं व मुच्चति ।
डहन्तं बालमन्वेति, भस्माच्छन्नो व पावको ॥

—५।१२

१८. अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति ॥

६।१०

१९. गामे वा यदि वा रञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले ।
यत्थारहन्तो विहरन्ति, तं भूमिं रामणेय्यकं ॥

— ७।९

२०. सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥

—८।१

२१. यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगामजुत्तमो ॥

—८।४

२२. अभिवादनसीलस्स, निच्चं बुढ्ढापचायिनो ।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं ॥

—८।१०

२३. यो च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरियो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, वीरियमारभतो दल्हं ॥

—८।१३

२४. उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भोपि पूरति ।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स, थोक थोकम्पि आचिनं ॥

—९।७

१६. वह काम करना ठीक नहीं, जिसे करके पीछे पछताना पड़े ।

१७. पाप कर्म ताजा दूध की तरह तुरंत ही विकार नहीं लाता, वह तो राख, से ढकी अग्नि की तरह धीरे धीरे जलते हुए मूढ मनुष्य का पीछा करता रहता है ।

१८. मनुष्यों में पार जाने वाले थोड़े ही होते हैं, अधिकतर लोग किनारे-ही -किनारे दौड़ते रहते हैं ।

१९. गांव में या जंगल में, ऊँचाई पर या निचाई पर जहां कहीं पर भी अर्हत् विहार करते हैं वही भूमि रमणीय है ।

२०. व्यर्थ के पदों से युक्त हजारों वचनों से सार्थक एक पद ही श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है ।

२१. जो संग्राम में हजारों मनुष्यों को जीत लेता है, उस से भी उत्तम संग्राम-विजयी वह है, जो एक अपने (आत्मा) को विजय कर लेता है ।

२२. वृद्धों की सेवा करने वाले विनयशील व्यक्ति के ये चार गुण सदा बढ़ते रहते हैं—आयु, वर्ण=यश, सुख और बल !

२३. आलसी और अनुद्योगी रहकर सौ वर्ष जीने की अपेक्षा दृढ़ उद्योगी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है ।

२४. जैसे कि पानी की एक-एक बूँद से घड़ा भर जाता है, वैसे ही धीर पुरुष थोड़ा-थोड़ा करके भी पुण्य का काफी संचय कर लेता है ।

२५. पाणिम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो॥

—९।९

२६. सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं॥

—१०।३

२७. मा वोच फरुसं किंचि, वुत्ता परिवदेय्युं तं।

—१०।५

२८. अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेस्सथ।

—११।२

२९. मरणंतं हि जीवितं।

११।३

३०. अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिवद्दो व जीरति।
मंसानि तस्स वड्ढंति, पञ्ञा तस्स न वड्ढति॥

—११।७

३१. अत्तानं चे तथा कयिरा, यथाञ्ञमनुसासति।

—१२।३

३२. अत्ताहि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परे सिया?

—१२।४

३३. सुद्धीअसुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये।

—१२।९

३४. उत्तिट्ठे न पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मि लोके परम्हि च॥

—१३।२

३५. अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेऽथ विपस्सति।

—१३।८

३६. न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति।

—१३।११

२५. यदि हाथ में घाव न हो तो उस हाथ में विष लेने पर भी शरीर में विष का प्रभाव नहीं होता है। इसी प्रकार मन में पाप न रखने वाले को बाहर से कर्म का पाप नहीं लगता।

२६. सभी प्राणी सुख चाहते हैं, जो अपने सुख की इच्छा से दूसरे प्राणियों की हिंसा करता है, उसे न यहां सुख मिलता है, न परलोक में।

२७. कठोर वचन मत बोलो, ताकि दूसरे भी तुम्हें वैसा न बोलें।

२८. अन्धकार से घिरे हुए लोग दीपक की तलाश क्यों नहीं करते ?

२९. जीवन की सीमा मृत्यु तक है।

३०. अल्पश्रुत मूढ़ व्यक्ति बैल की तरह बढ़ता है, उसका मांस तो बढ़ता है किंतु प्रज्ञा नहीं बढ़ती है।

३१. जैसा अनुशासन तुम दूसरो पर करना चाहते हो, वैसा ही अपने ऊपर भी करो।

३२. आपका अपना आत्मा ही अपना नाथ (स्वामी) है, दूसरा कौन उसका नाथ हो सकता है ?

३३. शुद्धि और अशुद्धि अपने से ही होती है, दूसरा कोई किसी अन्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

३४. उठो ! प्रमाद मत करो, सद् धर्म का आचरण करो। धर्माचारी पुरुष लोक परलोक दोनों जगह सुखी रहता है।

३५. यह संसार अंधों के समान हो रहा है, यहां देखने वाले बहुत थोड़े हैं।

३६. कृपण मनुष्य कभी स्वर्ग में नहीं जाते।

३७. किच्छो मनुस्सपटिलाभो, किच्छं मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानुप्पादो॥

—१४।४

३८. सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥

—१४।५

३९. खन्ति परमं तपो तितिक्खा।

—१४।६

४०. न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।

—१४।८

४१. जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं॥

—१५।५

४२. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।

—१५।६

४३. नत्थि सन्ति परं सुखं।

—१५।६

४४. जिघच्छा परमा रोगा।

—१५।७

४५. आरोग्य परमा लाभा, सन्तुट्ठि परमं धनं।
विस्सास परमा ञाती, निब्बानं परमं सुखं॥

—१५।८

४६. तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं?

—१६।८

४७. यो वे उप्पतितं कोध, रथं भन्तं व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

—१७।२

३७. मनुष्य का जन्म पाना कठिन है, मनुष्य का जीवित रहना कठिन है। सद्धर्म का श्रवण करना कठिन है, और बुद्धों (ज्ञानियों) का उत्पन्न होना कठिन है।

३८. पापाचार का सर्वथा नहीं करना, पुण्य का संचय करना, स्व-चित्त को विशुद्ध करना—यही बुद्धों की शिक्षा है।

३९. क्षमा (सहिष्णुता) परम तप है।

४०. स्वर्णमुद्राओं की वर्षा होने पर भी अतृप्त मनुष्य को विषयों से तृप्ति नहीं होती।

४१. विजय से वैर की परंपरा बढ़ती है, पराजित व्यक्ति मन में कुढ़ता रहता है। जो जय और पराजय को छोड़ देता है वही सुखी होता है।

४२. राग से बढ़कर और कोई अग्नि नहीं है, द्वेष से बढ़कर और कोई पाप नहीं है।

४३. शांति से बढ़कर सुख नहीं है।

४४. भूख सबसे बड़ा रोग है।

४५. आरोग्य परम लाभ है, संतोष परम धन है। विश्वास परम बन्धु है और निर्वाण परम सुख है।

४६. तृष्णा से शोक और भय होता है। जो तृष्णा से मुक्त हो गया उसे न शोक होता है, न भय!

४७. जो उत्पन्न क्रोध को, चलते रथ की तरह रोक लेता है, उसी को मैं सारथि कहता हूँ। बाकी लोग तो सिर्फ लगाम पकड़ने वाले है।

४८. अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन अलीकवादिनं ।।

१७।३

४९. मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं ।

—१८।७

५०. अविज्जा परमं मलं ।

—१८।९

५१. नत्थि मोहसमो जालं, नत्थि तण्हासमा नदी ।

—१८।१७

५२. सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसो ।

—१८।१८

५३. आकासे च पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे ।

—१८।२१

५४. न तेन पण्डितो होती, यावता बहु भासति ।
खेमी अवेरी अभयो, पण्डितो ति पवुच्चति ।।

—१९।३

५५. न तेन थेरो होति, येनस्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स, मोघजिण्णो ति वुच्चति ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा सञ्ञमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो, थेरो ति पवुच्चति ।।

—१९।५।६

५६. न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं ।

—१९।९

५७. न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो ति पवुच्चति ।।

—१९।१५

५८. मत्ता सुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं ।
चजे मत्ता सुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं ।।

—२१।१

४८. अक्रोध (क्षमा) से क्रोध को जीते, भलाई से बुराई को जीते, दान से कृपण को जीते और सत्य से असत्यवादी को जीते।

४९. आलस्य सुन्दरता का मैल है, असावधानी रक्षक (पहरेदार) का मैल है।

५०. अविद्या सबसे बड़ा मैल है।

५१. मोह के समान दूसरा कोई जाल नहीं। तृष्णा के समान और कोई नदी नहीं।

५२. दूसरो के दोष देखना आसान है। अपने दोष देख पाना कठिन है।

५३. आकाश में कोई किसी का पदचिन्ह नहीं है, बाहर में कोई श्रमण नहीं है।

५४. बहुत बोलने से कोई पंडित नहीं होता। जो क्षमाशील, वैररहित और निर्भय होता है वही पंडित कहा जाता है।

५५. शिर के बाल सफेद हो जाने से ही कोई स्थविर नहीं हो जाता, आयु के परिपक्व होने पर मनुष्य केवल मोघजीर्ण (व्यर्थ का) वृद्ध होता है। जिस में सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वस्तुतः वही विगतमल धीर व्यक्ति स्थविर कहा जाता है।

५६. जो अव्रती है, मिथ्या भाषी है, वह सिर मुंडा लेने भर से श्रमण नहीं हो जाता।

५७. जो प्राणियों की हिंसा करता है वह आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव रखने वाला ही आर्य कहा जाता है।

५८. यदि थोड़ा सुख छोड़ देने से विपुल सुख मिलता हो तो बुद्धिमान् पुरुष विपुल सुख का विचार करके थोड़े सुख का मोह छोड़ दें।

५६. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता ।

—२३।११

६०. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति,
सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति ।

—२४।२१

६१. हनन्ति भोगा दुम्मेधं ।

—२४।२२

६२. तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा ।

—२४।२३

६३. सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे ।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खू, समाधिं नाधिगच्छति ।।

—२५।६

६४. समचरिया समणो ति वुच्चति ।

—२६।६

६५. यतो यतो हिंसमनो निवत्तति,
ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं ।

—२६।८

६६. किं ते जटाहि दुम्मेध ! किं ते अजिनसाटिया ।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ।।

—२६।१२

५९. अकेला चलना अच्छा है, किंतु मूर्ख का संग करना ठीक नहीं है ।

६०. धर्म का दान, सब दानों से बढ़कर है ।
धर्म का रस, सब रसों से श्रेष्ठ है ।

६१. दुर्बुद्धि अज्ञानी को भोग नष्ट कर देते हैं ।

६२. खेतों का दोष तृण (घास फूस) है, मनुष्यों का दोष राग है ।

६३. अपने लाभ की अवहेलना न करे, दूसरों के लाभ की स्पृहा न करे ।
दूसरों के लाभ की स्पृहा करने वाला भिक्षु समाधि नहीं प्राप्त कर सकता ।

६४. जो समता का आचरण करता है, वह समण (श्रमण) कहलाता है ।

६५. मन ज्यों ज्यों हिंसा से दूर हटता है, त्यों त्यों दुःख शांत होता जाता है ।

६६. मूर्ख ! जटाओं से तेरा क्या बनेगा, और मृग छाला से भी तेरा क्या होगा ? तेरे अन्दर में तो राग द्वेष आदि का मल भरा पड़ा है, बाहर क्या धोता है ?

---

१. भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा संपादित 'धम्मपद'
मास्टर खिलाड़ी लाल एण्ड सन्स, वाराणसी संस्करण

सुत्तपिटक :

उदान[1] की सूक्तियां

●

१. न उदकेन सुची होती, बह्वेत्थ न्हायती जनो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

—१।६

२. अब्यापज्जं सुखं लोके, पाणभूतेसु संयमो ।

—२।१

३. सुखा विरागता लोके ।

—२।१

४. यं च कामसुखं लोके, यंचिदं दिवियं सुखं ।
तण्हक्खयसुखस्सेते, कलं नाग्घन्ति सोलसिं ॥

—२।२

५. सुखकामानि भूतानि ।

—२।३

६. फुसन्ति फस्सा उपधिं पटिच्च,
निरूपधिं केन फुसेय्य फस्सा ।

—२।४

७. जनो जनस्मिं पटिबन्धरूपो ।

—२।५

---

१ भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालंदा संस्करण ।

सुत्तपिटक :

उदान की सूक्तियां

●

१. स्नान तो प्रायः सभी लोग करते हैं, किन्तु पानी से कोई शुद्ध नहीं होता। जिसमें सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है।

२. छोटे-बड़े सभी प्राणियों के प्रति संयम और मित्रभाव का होना ही वास्तविक सुख है।

३. संसार में वीतरागता ही सुख है।

४. जो इस लोक में कामसुख हैं, और जो परलोक में स्वर्ग के सुख हैं—वे सब तृष्णा के क्षय से होने वाले आध्यात्मिक सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं।

५. सभी प्राणी सुख चाहते हैं।

६. उपाधि के कारण ही स्पर्श (सुख दुःखादि) होते हैं, उपाधि के मिट जाने पर स्पर्श कैसे होंगे ?

७. एक व्यक्ति दूसरे के लिए बन्धन है।

८. सुखिनो वत ये अकिञ्चना।

—२।६

९. असातं सातरूपेन, पियरूपेन अप्पियं।
दुक्खं सुखस्स रूपेन, पमत्तमतिवत्तति॥

—२।८

१०. सब्बं परवसं दुक्खं, सब्बं इस्सरियं सुखं।

—२।९

११. यस्स नित्तिण्णो पंको, मद्दितो कामकण्टको।
मोहक्खयं अनुप्पत्तो, सुखदुक्खेसु न वेधती स भिक्खू।

—३।२

१२. यथा पि पब्बतो सेलो, अचलो सुप्पतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु, पब्बतो व न वेधती॥

—३।४

१३. यम्ही न माया वसती न मानो,
यो वीतलोभो अममो निरासो।
पनुण्णकोधो अभिनिब्बुतत्तो,
सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू॥

—३।६

१४. असुभा भावेतब्बा रागस्स पहानाय।
मेत्ता भावेतब्बा ब्यापादस्स पहानाय।
आनापानस्सति भावेतब्बा वितक्कुपच्छेदाय।
अनिच्चसञ्ञा भावेतब्बा अस्मिमानसमुग्घाताय॥

—४।१

१५. खुद्दा वितक्का सुखुमा वितक्का,
अनुग्गता मनसो उप्पिलावा।

—४।१

८. जो अकिञ्चन हैं, वे ही सुखी हैं।

९. बुरे को अच्छे रूप में, अप्रिय को प्रियरूप में, दुःख को सुखरूप में, प्रमत्त लोग ही समझा करते हैं।

१०. जो पराधीन है, वह सब दुःख है, और जो स्वाधीन है, वह सब सुख है।

११. जो पाप पंक को पार कर चुका है, जिस ने कामवासना के कांटों को कुचल दिया है, जो मोह को क्षय कर चुका है, और जो सुख दुःख से विद्ध नहीं होता है, वही सच्चा भिक्षु है।

१२. जैसे ठोस चट्टानों वाला पर्वत अचल होकर खड़ा रहता है, वैसे ही मोह के क्षय होने पर भिक्षु भी शांत और स्थिर रहता है।

१३. जिस में न माया (दंभ) है, न अभिमान है, न लोभ है, न स्वार्थ है, न तृष्णा है और जो क्रोध से रहित तथा प्रशान्त है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, और वही भिक्षु है।

१४. राग के प्रहाण के लिए अशुभ[1] भावना का अभ्यास करना चाहिए।
द्वेष के प्रहाण के लिए मैत्री भावना का अभ्यास करना चाहिए।
बुरे वितर्कों का उच्छेद करने के लिए आनापान[2] स्मृति का अभ्यास करना चाहिए।
अहं भाव का नाश करने के लिए अनित्य भावना का अभ्यास करना चाहिए।

१५. अन्तर् में उठने वाले अनेक क्षुद्र और सूक्ष्म वितर्क ही मन को उत्पीड़ित करते हैं।

---

१. अशुचि भावना।
२. श्वास प्रश्वास पर चित्त स्थिर करना।

१६. अरक्खितेन कायेन, मिच्छादिट्ठिहतेन च।
थीनमिद्धाभिभूतेन, वसं मारस्स गच्छति॥

—४।२

१७. तुदन्ति वाचाय जना असञ्ञता,
सरेहि संगामगतं व कुंजरं।

—४।८

१८. भद्दकं मे जीवितं, भद्दकं मरणं।

—४।६

१६. यं जीवितं न तपति, मरणन्ते न सोचति।
स वे दिट्ठपदो धीरो, सोकमज्झे न सोचति॥

—४।६

२०. नत्थञ्ञो कोचि अत्तना पियतरो।

—५।१

२१. सुद्धं वत्थं अपगतकालकं सम्मदेव रजनं पटिग्गण्हेय्य।

—५।३

२२. पण्डितो जीवलोकस्मि, पापानि परिवज्जये।

—५।३

२३. सचे भायथ दुक्खस्स, सचे वो दुक्खमप्पियं।
माकत्थ पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो॥

—५।४

२४. सचे च पापकं कम्मं, करिस्सथ करोथ वा।
न वो दुक्खा पमुत्यत्थि, उपेच्च पि पलायतं॥

—५।४

२५. छन्नमतिवस्सति, विवटं नातिवस्सति।
तस्मा छन्नं विवरेथ, एवं तं नातिवस्सति॥

—५।५

२६. अरियो न रमती पापे, पापे न रमती सुची।

—५।६

१६. शरीर से संयमहीन प्रवृत्ति करने वाला, मिथ्या सिद्धान्त को मानने वाला और निरुद्यमी आलसी व्यक्ति मार की पकड़ में आ जाता है।

१७. असंयत मनुष्य दुर्वचनों से उसी प्रकार भड़क उठते हैं, जिस प्रकार युद्ध में बाणों से आहत होने पर हाथी।

१८. मेरा जीवन भी भद्र (मंगल) है और मरण भी भद्र है।

१९. जिसको न जीवन की तृष्णा है और न मृत्यु का शोक है, वह ज्ञानी धीर पुरुष शोक के प्रसंगों में भी कभी शोक नहीं करता है।

२०. अपने से बढ़कर अन्य कोई प्रिय नहीं है।

२१ कालिमा से रहित शुद्ध श्वेत वस्त्र रंग को ठीक से पकड़ लेता है। (इसी प्रकार शुद्ध हृदय व्यक्ति भी धर्मोपदेश को सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर लेता है।)

२२. पण्डित वह है जो जीते जी पापों को छोड़ देता है।

२३. यदि सचमुच ही तुम दुःख से डरते हो और तुम्हें दुःख अप्रिय है, तो फिर प्रकट या गुप्त किसी भी रूप में पाप कर्म मत करो।

२४. यदि तुम पाप कर्म करते हो या करना चाहते हो तो दुःख से छुटकारा नहीं हो सकेगा, चाहे भाग कर कहीं भी चले जाओ।

२५. छिपा हुआ (पाप) लगा रहता है, खुलने पर नहीं लगा रहता। इसलिए छिपे पाप को खोल दो, आत्मालोचन के रूप में प्रकट कर दो, फिर वह नहीं लगा रहेगा।

२६. आर्य जन पाप में नहीं रमते, शुद्ध जन पाप में नहीं रमते।

२७. सुकरं साधुना साधु, साधु पापेन दुक्करं।
पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं॥

—५।८

२८. परिमुट्ठा पंडिताभासा, वाचागोचरभाणिनो।
याविच्छन्ति मुखायामं, येन नीता न तं विदू॥

—५।९

२९. संवासेन खो, महाराज, सीलं वेदितब्बं,
तं च खो दीघेन अद्धुना, न इत्तरं।
मनसि करोता नो अमनसि करोता, पञ्ञवता नो दुपञ्ञेन।

—६।२

३०. संवोहारेण खो, महाराज, सोचेइयं वेदितब्बं।

—६।२

३१. आपदासु खो, महाराज, थामो वेदितब्बो....

—६।२

३२. साकच्छाय खो, महाराज, पञ्ञा वेदितब्बा....।

—६।२

३३. न वायमेय्य सब्बत्थ, नाञ्ञस्स पुरिसो सिया।
नाञ्ञं निस्साय जीवेय्य, धम्मेन न वणि चरे॥

—६।२

३४. विग्गय्ह नं विवदन्ति, जना एकङ्गदस्सिनो।

—६।४

३५. अहङ्कारपसूतायं पजा परंकारूपसंहिता।

—६।६

२७. साधु पुरुषों को साधु कर्म (सत्कर्म) करना सुकर है, पापियों को साधु कर्म करना दुष्कर है।
पापियों को पाप कर्म करना सुकर है, आर्यजनों को पाप कर्म करना दुष्कर है।

२८. अपने को पण्डित समझने वाले पण्डिताभास मूर्ख खूब मुंह फाड़-फाड़ कर व्यर्थ की लंबी चौड़ी बातें करते हैं, परन्तु वे क्या कर रहे हैं, यह स्वयं नहीं जान पाते।

२९. महाराज![1] किसी के साथ रहने से ही उसके शील का पता लगाया जा सकता है, वह भी कुछ दिन नहीं, बहुत दिनों तक;
वह भी बिना ध्यान से नहीं, किन्तु ध्यान से;
बिना बुद्धिमानी से नहीं, किन्तु बुद्धिमानी से।

३० हे महाराज, व्यवहार करने पर ही मनुष्य की प्रामाणिकता का पता लगता है।

३१. हे महाराज, आपत्ति काल में ही मनुष्य के धैर्य का पता लगता है।

३२. हे महाराज, बातचीत करने पर ही किसी की प्रज्ञा (बुद्धिमानी) का पता चल सकता है।

३३. हर कोई काम करने को तैयार नही हो जाना चाहिए, दूसरे का गुलाम होकर नहीं रहना चाहिए, किसी दूसरे के भरोसे पर जीना उचित नहीं, धर्म के नाम पर धंधा शुरू नहीं कर देना चाहिए।

३४. धर्म के केवल एक ही अंग को देखने वाले आपस में झगड़ते हैं, विवाद करते हैं।

३५. ससार के अज्ञजीव अहंकार और परंकार के (मेरे तेरे के) चक्कर में ही पड़े रहते हैं।

---

१. श्रावस्ती नरेश प्रसेनजित के प्रति तथागत का उपदेश २९ से ३२।

३६. अहं करोमी ति न तस्स होति,
परो करोती ति न तस्स होति ।

—६।६

३७. दिट्ठीसु सारम्भकथा, संसारं नातिवत्तति ।

—६।६

३८. पतन्ति पज्जोतमिवाधिपातका,
दिट्ठे सुते इतिहेके निविट्ठा ।

—६।६

३९. ओभासति ताव सो किमि,
याव न उन्नमते पभङ्करो ।
स वेरोचनम्हि उग्गते,
हतप्पभो होति नचा पि भासति ॥

—६।१०

४०. विसुक्खा सरिता न सन्दति,
छिन्नं वट्टं न वत्तति ।

—७।२

४१. किं कयिरा उदपानेन, आपा चे सब्बदासियुं ।

—७।९

४२. पस्सतो नत्थि किञ्चनं ।

—७।१०

४३. निस्सितस्स चलितं, अनिस्सितस्स चलितं नत्थि ।

—८।४

४४. नतिया असति आगतिगति न भवति ।

—८।४

४५. ददतो पुञ्ञं पवड्ढति ।
संयमतो वेरं न चीयति ।

—८।५

३६. तत्त्वदर्शी साधक को यह द्वैत नहीं होता कि यह मैं करता हूं या कोई दूसरा करता है।

३७. विभिन्न मत पक्षों को लेकर झगड़ने वाले संसारबन्धन से कभी मुक्त नहीं हो सकते।

३८. जैसे पतंगे उड़-उड़कर जलते प्रदीप पर आ गिरते हैं, वैसे ही अज्ञजन दृष्ट और श्रुतवस्तु के व्यामोह में फँस जाते हैं।

३९. तभी तक खद्योत (जुगनू) टिम टिमाते हैं, जब तक सूरज नहीं उगता। सूरज के उदय होते ही उनका टिम टिमाना बन्द हो जाता है, वे हत-प्रभ हो जाते हैं।

४०. सूखी हुई नदी की धारा नहीं बहती, लता कट जाने पर और नहीं फैलती।

४१. यदि पानी सदा सर्वदा सर्वत्र मिलता रहे, तो फिर कुँए से क्या करना है?

४२. तत्वद्रष्टा ज्ञानी के लिए रागादि कुछ नहीं हैं।

४३. आसक्त का चित्त चंचल रहता है। अनासक्त का चित्त चंचल नहीं होता है।

४४. राग नहीं होने से आवागमन नहीं होता है।

४५. दान देने से पुण्य बढ़ता है, संयम करने से वैर नहीं बढ़ पाता है।

४६. दुस्सीलो सीलविपन्नो सम्मूळ्हो कालं करोति ।

—८।६

४७. कुल्लं हि जनो पबन्धति,
तिण्णा मेधाविनो जना ।

—८।६

४८. सद्धिं चरमेकतो वसं
मिस्सो अञ्ञजनेन वेदगू ।
विद्वा पजहाति पापकं
कोञ्चो खीरपको व निन्नगं ॥

—८।७

४९. येसं नत्थि पियं, नत्थि तेसं दुक्खं ।

—८।८

४६. शीलरहित दुःशील व्यक्ति मृत्यु के क्षणों में विमूढ़ हो जाता है, घबड़ा जाता है।

४७. अज्ञजन बेड़ा बाँधते ही रह गये, और ज्ञानी जन संसारसागर को पार भी कर गये।

४८. पण्डित जन अज्ञजनों के साथ हिल मिलकर रहते हैं, साथ-साथ चलते हैं, फिर भी उनके दुर्विचार को वैसे ही छोड़े रहते हैं, जैसे क्रौंच पक्षी दूध पीकर पानी को छोड़ देता है।

४९. जिनका कहीं भी किसी से भी राग नहीं है, उनको कोई भी दुःख नहीं है।

सुत्तपिटक :

इतिवुत्तक[1] की सूक्तियां

●

१. मोहं भिक्खवे, एकधम्मं पजहथ,
अहं वो पाटिभोगो अनागामिताया ।

—१।३

२. सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानं चनुग्गहो ।
समग्गरतो धम्मट्ठो, योग-क्खेमा न धंसति ।।

—१।१९

३. अप्पमादं पसंसन्ति, पुञ्ञकिरियासु पण्डिता ।

—१।२३

४. भोजनम्हि च मत्तञ्ञू, इन्द्रियेसु च संवुतो ।
कायसुखं चेतोसुखं, सुखं सो अधिगच्छति ।।

—२।२

५. द्वे मे, भिक्खवे, सुक्का धम्मा लोकं पालेन्ति ।
कतमे द्वे ?
हिरी च, ओत्तप्पं च ।

—२।१५

६. सुत्ता जागरितं सेय्यो, नत्थि जागरतो भयं ।

—२।२०

---

1 भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालंदासंस्करण ।

सुत्तपिटक :

इतिवुत्तक की सूक्तियां

●

१. भिक्षुओ, एक मोह को छोड़ दो, मैं तुम्हारे अनागामी (निर्वाण) का जामिन होता हूँ ।

२. संघ का मिलकर रहना सुखदायक है । संघ में परस्पर मेल बढ़ाने वाला, मेल करने में लीन धार्मिक व्यक्ति कभी योग-क्षेम से वंचित नहीं होता ।

३. बुद्धिमान् लोग पुण्य कर्म (सत्कर्म) करने में प्रमाद न करने की प्रशंसा करते हैं ।

४. जो भोजन की मात्रा को जानता है और इन्द्रियों में संयमी है, वह बड़े आनन्द से शारीरिक तथा मानसिक सभी सुखों को प्राप्त करता है ।

५. भिक्षुओ ! दो परिशुद्ध बातें लोक का संरक्षण करती हैं ?
कौन सी दो ?
लज्जा और संकोच ।

६. सोने से जागना श्रेष्ठ है, जागने वाले को कहीं कोई भय नहीं है ।

७. सेयो अयोगुलो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यं चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिण्डमसञ्ञतो॥

—३।२१

८. लोभो दोसो च मोहो च, पुरिसं पापचेतसं।
हिंसन्ति अत्तसंभूता तचसारं व सम्फलं॥

—३।१

९. पञ्ञाचक्खु अनुत्तरं।

—३।१२

१०. यादिसं कुरुते मित्तं, यादिसं चूपसेवति।
स वे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसो॥

—३।२७

११. असन्तो निरयं नेन्ति, सन्तो पापेन्ति सुग्गतिं।

—३।२७

१२. परित्तं दारुमारुय्ह, यथा सीदे महण्णवे।
एवं कुसीतमागम्म, साधुजीवी पि सीदति॥

—३।२९

१३. निच्चं आरद्धविरियेहि, पण्डितेहि सहावसे।

—३।२९

१४. मनुस्सत्तं खो, भिक्खु, देवानं सुगतिगमनसंखातं।

—३।३४

१५. चरं वा यदि वा तिट्ठं, निसिन्नो उद वा सयं।
अज्झत्तं समयं चित्तं, सन्तिमेवाधिगच्छति॥

—३।३७

१६. अनत्थजननो लोभो, लोभो चित्तप्पकोपनो।
भयमन्तरतो जातं, तं जनो नावबुज्झति॥

—३।३९

१७. लुद्धो अत्थं न जानाति, लुद्धो धम्मं न पस्सति।
अन्धतमं तदा होति, यं लोभो सहते नरं॥

—३।३९

७. असंयमी और दुराचारी होकर राष्ट्र-पिण्ड (देश का अन्न) खाने की अपेक्षा तो अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खा लेना श्रेष्ठ है।

८. अपने ही मन में उत्पन्न होने वाले लोभ, द्वेष और मोह, पाप चित्त वाले व्यक्ति को वैसे ही नष्ट कर देते हैं, जैसे कि केले के वृक्ष को उसका फल।

९. प्रज्ञा (बुद्धि) की आँख ही सर्वश्रेष्ठ आँख है।

१०. जो जैसा मित्र बनाता है, और जो जैसे सम्पर्क मे रहता है, वह वैसा ही बन जाता है, क्योंकि उसका सहवास ही वैसा है।

११. असत्पुरुष (दुर्जन) नरक में ले जाते हैं और सत्पुरुष (सज्जन) स्वर्ग में पहुँचा देते हैं।

१२. जिस प्रकार थोड़ी लकड़ियों के क्षुद्र बेड़े पर बैठ कर समुद्रयात्रा करने वाला व्यक्ति समुद्र में डूब जाता है, उसी प्रकार आलसी के साथ अच्छा आदमी भी बरबाद हो जाता है।

१३. बुद्धिमान एवं निरंतर उद्योगशील व्यक्ति के साथ रहना चाहिए।

१४. हे भिक्षु, मनुष्य जन्म पा लेना ही देवताओं के लिए सुगति (अच्छी गति) प्राप्त करना है।

१५ चलते, खड़े होते, बैठते या सोते हुए जो अपने चित्त को शान्त रखता है, वह अवश्य ही शान्ति प्राप्त कर लेता है।

१६. लोभ अनर्थ का जनक है, लोभ चित्त को विकृत करने वाला है आश्चर्य है लोभ के रूप में अपने अन्दर ही पैदा हुए खतरे को लोग नहीं जान पा रहे हैं।

१७. लोभी न परमार्थ को समझता है और न धर्म को। वह तो धन को ही सब कुछ समझता है। उसके अन्तरतम में गहन अन्धकार छाया रहता है।

१८. अदुट्ठस्स हि यो दुब्भे, पापकम्मं अकुब्बतो।
तमेव पापं फुसति, दुट्ठचित्तं अनादरं॥

—३।४०

१९. समुद्दं विसकुम्भेन, यो मञ्ञेय्य पदूसितुं।
न सो तेन पदूसेय्य, भेस्मा हि उदधि महा॥

—३।४०

२०. तयोमे, भिक्खवे अग्गी।
कतमे तयो?
रागग्गी, दोसग्गी, मोहग्गी।

—३।४४

२१. सागारा अनगारा च, उभो अञ्ञोञ्ञनिस्सिता।
आराधयन्ति सद्धम्मं, योगक्खेमं अनुत्तरं॥

—४।८

२२. कुहा थद्धा लपा सिङ्गी, उन्नला असमाहिता।
न ते धम्मे विरूहन्ति, सम्मासम्बुद्धदेसिते॥

—४।६

२३. यतं चरे यतं तिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये।

—४।१२

१८. जो पाप कर्म न करने वाले निर्दोष व्यक्ति पर दोष लगाता है, तो वह पाप पलटकर उसी दुष्ट चित्त वाले दूषित व्यक्ति को ही पकड़ लेता है ।

१९. विष के एक घड़े से समुद्र को दूषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि समुद्र अतीव महान् है, विशाल है । वैसे ही महापुरुष को किसी की निन्दा दूषित नहीं कर सकती ।

२०. भिक्षुओ ! तीन अग्नियाँ हैं ।
कौन सी तीन अग्नियाँ ?
राग की अग्नि, द्वेष की अग्नि और मोह की अग्नि ।

२१. गृहस्थ और प्रव्रजित (साधु)—दोनों ही एक दूसरे के सहयोग से कल्याण-कारी सर्वोत्तम सद्धर्म का पालन करते हैं ।

२२. जो धूर्त हैं, क्रोधी हैं, बातूनी हैं, चालाक हैं, घमंडी हैं, और एकाग्रता से रहित हैं, वे सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म में उन्नति नहीं कर सकते हैं ।

२३. साधक यतना से चले, यतना से खड़ा हो, यतना से बैठे और यतना से ही सोये ।

सुत्तपिटक :

सुत्तनिपात[1] की सूक्तियां

●

१. यो उप्पतितं विनेति कोधं,
विसटं सप्पविसंऽव ओसधेहि ।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं,
उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं ॥

—१।१।१

२. यो तण्हमुदऽच्छिदा असेसं,
सरितं सीघसरं विसोसयित्वा ।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं,
उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं ॥

—१।१।३

३. उपधी हि नरस्स सोचना,
न हि सोचति यो निरूपधी ।

—१।२।१७

४. सेट्ठा समा सेवितब्बा सहाया ।

—१।३।१३

---

१ भिक्षु धर्मरत्न द्वारा संपादित, महाबोधिसभा सारनाथ संस्करण ।

सुत्तपिटक :

सुत्तनिपात की सूक्तियां

●

१. जो चढ़े क्रोध को वैसे ही शांत कर देता है जैसे कि देह में फैलते हुए सर्पविष को औषधि, वह भिक्षु इस पार तथा उस पार को अर्थात् लोक-पर लोक को छोड़ देता है, साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को।

२. जो वेग से बहने वाली तृष्णारूपी सरिता को सुखाकर नष्ट कर देता है, वह भिक्षु इस पार उस पार को अर्थात् लोक परलोक को छोड़ देता है, सांप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को।

३. विषय भोग की उपधि ही मनुष्य की चिंता का कारण है, जो निरुपधि हैं, विषय भोग से मुक्त हैं, वे कभी चिंताकुल नहीं होते।

४. श्रेष्ठ और समान मित्रों की संगति करनी चाहिए।

५. सीहोऽव सद्देसु असन्तसन्तो,
वातोऽव जालम्हि असज्जमाणो।
पदुमंऽव तोयेन अलिप्पमाणो,
एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

—१।३।३७

६. निक्कारणा दुल्लभा अज्ज मित्ता।

—१।३।४१

७. सद्धा बीजं, तपो वुट्ठि।

—१।४।२

८. गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्य।

—१।४।६

९. धम्मकामो भवं होति, धम्मदेस्सी पराभवो।

—१।६।२

१०. निद्दासीली सभासीली, अनुट्ठाता च यो नरो।
अलसो कोधपञ्ञाणो, तं पराभवतो मुखं॥

—१।६।६

११. एको भुञ्जति सादूनि, तं पराभवतो मुखं।

—१।६।१२

१२. जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो।
संञ्ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥

—१।६।१४

१३. यस्स पाणे दया नत्थि, तं जञ्ञा वसलो इति।

—१।७।२

१४. यो अत्थं पुच्छितो संतो, अनत्थमनुसासति।
पटिच्छन्नेन मन्तेति, तं जञ्ञा वसलो इति॥

—१।७।११

५. शब्द से त्रस्त न होने वाले सिंह, जाल में न फँसने वाले वायु, एवं जल से लिप्त न होने वाले कमल के समान अनासक्त भाव से अकेला विचरे, खड्गविषाण (गेंडे के सींग) की तरह।

६. आजकल निःस्वार्थ मित्र दुर्लभ हैं।

७. श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वर्षा है।

८. धर्मोपदेश करने से प्राप्त भोजन मेरे (धर्मोपदेष्टा के) योग्य नहीं है।

९. धर्मप्रेमी उन्नति को प्राप्त होता है और धर्मद्वेषी अवनति को।

१०. जो मनुष्य निद्रालु है, सभी—भीड़भाड़ एवं धूमधाम पसन्द करता है, अनुद्योगी है, आलसी है और क्रोधी है, वह अवश्य ही अवनति को प्राप्त होता है।

११. जो व्यक्ति अकेला ही स्वादिष्ट भोजन करता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

१२. जो मनुष्य अपने जाति, धन और गोत्र का गर्व करता है, अपने ज्ञाति-जनों का,—बन्धु बांधवों का अपमान करता है, वह उसकी अवनति का कारण है।

१३. जिसे प्राणियों के प्रति दया नहीं है, उसी को वृषल (शूद्र) समझना चाहिए।

१४. जो अर्थ (लाभ) की बात पूछने पर अनर्थ (हानि) की बात बताता है, और वास्तविकता को छुपाने के लिए घुमा—फिराकर बात करता है, उसे ही वृषल (शूद्र) समझना चाहिए।

१५. यो चत्तानं समुक्कंसे, परं च मवजानति।
निहीनो सेन मानेन, तं जञ्ञा वसलो इति॥

—१।७।१७

१६. न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

—१।७।२७

१७. न च खुद्दं समाचरे किञ्चि,
येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं।

—१।८।३

१८. सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता।

—१।८।३

१९. न परो परं निकुब्बेथ, नातिमञ्ञेथ कत्थचिनं कञ्चि।

—१।८।६

२०. मेत्तं च सब्बलोकस्मि, मानसं भावये अपरिमाणं।

—१।८।८

२१. सच्चं हवे सादुतरं रसानं।

—१।१०।२

२२. धम्मो सुचिण्णो सुखमावहाति।

—१।१०।२

२३. पञ्ञाजीविं जीवितमाहु सेट्ठं।

—१।१०।२

२४. विरियेन दुक्खं अच्चेति, पञ्ञाय परिसुज्झति।

—१।१०।४

२५. सद्धाय तरती ओघं।

—१।१०।४

२६. पतिरूपकारी धुरवा, उट्ठाता विन्दते धनं।

—१।१०।७

१५. जो अपनी बड़ाई मारता है, दूसरे का अपमान करता है, किंतु बड़ाई के योग्य सत्कर्म से रहित है, उसे वृषल (शूद्र) समझना चाहिए।

१६. जाति से न कोई वृषल (शूद्र) होता है और न कोई ब्राह्मण। कर्म से ही वृषल होता है और कर्म से ही ब्राह्मण।

१७. ऐसा कोई क्षुद्र (ओछा) आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे विद्वान् लोग बुरा बताएँ।

१८. विश्व के सब प्राणी सुखी हों।

१९. किसी को धोखा नहीं देना चाहिए और न किसी का अपमान करना चाहिए।

२०. विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम मैत्री की भावना बढ़ाएँ।

२१. सब रसों में सत्य का रस ही स्वादुतर (श्रेष्ठ) है।

२२. सम्यक् प्रकार से आचरित धर्म सुख देता है।

२३. प्रज्ञामय (बुद्धियुक्त) जीवन को ही श्रेष्ठ जीवन कहा है।

२४. मनुष्य पराक्रम के द्वारा दुःखों से पार होता है और प्रज्ञा से परिशुद्ध होता है।

२५. मनुष्य श्रद्धा से संसार-प्रवाह को पार कर जाता है।

२६. कार्य के अनुरूप प्रयत्न करने वाला धीर व्यक्ति खूब लक्ष्मी प्राप्त करता है।

२७. सच्चेन कित्ति पप्पोति, ददं मित्तानि गन्थति ।

—१।१०।७

२८. यस्सेते चतुरो धम्मा, सद्धस्स घरमेसिनो ।
सच्चं धम्मो धिती चागो, स वे पेच्च न सोचति ॥

—१।१०।८

२९. अरोसनेय्यो सो न रोसेति कंचि,
तं वापि धीरा मुनि वेदयन्ति ॥

—१।१२।१०

३०. अनन्वयं पियं वाचं, यो मित्तेसु पकुब्बति ।
अकरोन्तं भासमानं, परिजानन्ति पण्डिता ॥

—२।१५।२

३१. स वे मित्तो यो परेहि अभेज्जो ।

—२।१५।३

३२. निद्दरो होति निप्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं ।

—२।१५।५

३३. यथा माता पिता भाता, अञ्ञे वापि च ञातका ।
गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा ॥

—२।१६।१३

३४. तयो रोगा पुरे आसुं, इच्छा अनसनं जरा ।
पसूनं च समारम्भा, अट्ठानवुतिमागमुं ॥

—२।१६।२८

३५. यथा नरो आपगं ओतरित्वा,
महोदिकं सलिलं सीघसोतं ।
सो वुय्हमानो अनुसोतगामी,
किं सो परे सक्खति तारयेतुं ॥

—२।२०।४

३६. विञ्ञातसारानि सुभासितानि ।

—२।२१।६

२७. सत्य से कीर्ति प्राप्त होती है, और सहयोग (दान) से मित्र अपनाए जाते हैं।

२८. जिस श्रद्धाशील गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार धर्म हैं, उसे परलोक में पछताना नहीं पड़ता।

२९. जो न स्वयं चिढ़ता है और न दूसरों को चिढ़ाता है, उसे ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं।

३०. जो अपने मित्रों से बेकार की मीठी-मीठी बातें करता है, किन्तु अपने कहे हुए वचनों को पूरा नहीं करता है, ज्ञानी पुरुष उस मित्र की निंदा करते हैं।

३१. *वही सच्चा मित्र है, जो दूसरों के बहकावे में आकर फूट का शिकार न* बने।

३२ धर्मप्रीति का रस पान कर मनुष्य निर्भय और निष्पाप हो जाता है।

३३. माता, पिता, भाई एवं दूसरे ज्ञाति—बन्धुओं की तरह गायें भी हमारी परम मित्र है, जिनसे कि औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।

३४. पहले केवल तीन रोग थे—इच्छा, भूख और जरा। पशुवध प्रारम्भ होने पर अट्ठानवें रोग हो गए।

३५. जो मनुष्य तेज बहने वाली विशाल नदी में धारा के साथ बह रहा है, वह दूसरों को किस प्रकार पार उतार सकता है? (इसी प्रकार जो स्वयं शंकाग्रस्त है, वह धर्म के सम्बन्ध में दूसरों को क्या सिखाएगा?)

३६. ज्ञान सदुपदेशों का सार है।

३७. न तस्स पञ्ञा च सुतं च वड्ढति,
यो सालसो होति नरो पमत्तो।

—२।२१।६

३८. उट्ठहथ निसीदथ, को अत्थो सुपिनेन वो ?

—२।२२।१

३९. खणातीता हि सोचन्ति।

—२।२२।३

४०. अप्पमादेन विज्जा य, अब्बहे सल्लमत्तनोति।

—२।२२।४

४१. कच्चि अभिण्हसंवासा, नावजानासि पण्डितं।

—२।२३।१

४२. यथावादी तथाकारी, अहू बुद्धस्स सावको।

—२।२४।१५

४३. कोधं कदरियं जहेय्य भिक्खु।

—२।२५।४

४४. अब्रह्मचरियं परिवज्जयेय्य, अंगारकासुं जलितं व विञ्ञू।

—२।२६।२१

४५. कामा ते पठमा सेना, दुतिया अरति वुच्चति।
ततिया खुप्पिपासा ते, चतुत्थी तण्हा पवुच्चति॥

—३।२८।१२

४६. सुभासितं उत्तममाहु सन्तो।

—३।२९।१

४७. सच्चं वे अमता वाचा, एस धम्मो सनन्तनो।

—३।२९।४

४८. पुण्डरीकं यथा वग्गु, तोये न उपलिप्पति।
एवं पुञ्ञे च पापे च, उभये त्वं न लिप्पसि॥

—३।३२।३८

३७. जो मनुष्य आलसी और प्रमत्त है, न उसकी प्रज्ञा बढ़ती है और न उस का श्रुत (शास्त्र ज्ञान) ही बढ़ पाता है।

३८. जागो, बैठे हो जाओ, सोने से तुम्हे क्या लाभ है ? कुछ नहीं।

३९. समय चूकने पर पछताना पड़ता है।

४०. अप्रमाद और विद्या से ही अन्तर का शल्य (कांटा) निकाला जा सकता है।

४१. क्या तुम अति परिचय के कारण कभी ज्ञानी पुरुष का अपमान तो नहीं करते ?

४२. बुद्ध के शिष्य यथावादी तथाकारी हैं।

४३. भिक्षु क्रोध और कृपणता को छोड़ दे।

४४. जलते कोयले के कुण्ड के समान जान कर, साधक को, अब्रह्मचर्य का त्याग कर देना चाहिए।

४५. हे मार ! कामवासना तेरी पहली सेना है, अरति दूसरी, भूख प्यास तीसरी और तृष्णा तेरी चौथी सेना है।

४६. संतो ने अच्छे वचन को ही उत्तम कहा है।

४७. सत्य ही अमृत वाणी है, यह शाश्वत धर्म है।

४८. जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार पुण्य पाप—दोनों में आप भी लिप्त नहीं होते।

४९. नहि सो उपक्कमो अत्थि, येन जाता न मिय्यरे ।

—३।३।८।२

५०. नहि रुण्णेन सोकेन, सन्ति पप्पोति चेतसो ।

—३।३४।११

५१. वारिपोक्खरपत्तेव, आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।

—३।३५।३२

५२. समञ्ञा हेसा लोकस्मिं, नामगोत्तं पकप्पितं ।

—३।३५।५५

५३. कम्मना वत्तती लोको, कम्मना वत्तती पजा ।

—३।३५।६१

५४. पुरिसस्स हि जातस्स, कुठारी जायते मुखे ।
याय छिन्दति अत्तानं, बालो दुब्भासितं भणं ।।

—३।३६।१

५५. यो निन्दियं पसंसति,
तं वा निन्दति यो पसंसियो ।
विचिनाति मुखेन सो कलिं,
कलिना तेन सुखं न विन्दति ।।

—३।३६।२

५६. अभूतवादी निरयं उपेति,
यो वा पि कत्वा न करोमीति चाह ।

—३।३६।५

५७. नहि नस्सति कस्सचि कम्मं, एतिह नं लभतेव सुवामि ।

—३।३६।१०

५८. यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं ।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ।।

—३।३७।२७

४९. विश्व में ऐसा कोई उपक्रम नहीं है, जिससे कि प्राणी जन्म लेकर न मरें।

५०. रोने से या शोक करने से चित्त को शान्ति प्राप्त नहीं होती।

५१. जल में लिप्त नहीं होने वाले कमल की तरह, तथा आरे की नोंक पर न टिकने वाले सरसों के दाने की तरह जो विषयों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

५२. संसार में नाम गोत्र कल्पित हैं, केवल व्यवहारमात्र हैं।

५३. संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है।

५४. जन्म के साथ ही मनुष्य के मुँह मे कुल्हाड़ी (जीभ) पैदा होती है। अज्ञानी दुर्वचन बोलकर उससे अपने आप को ही काट डालता है।

५५. जो निन्दनीय की प्रशंसा करता है और प्रशंसनीय की निन्दा करता है, वह मुख से पाप एकत्रित करता है जिस के कारण उसे कभी सुख प्राप्त नही होता।

५६. असत्यवादी नरक में जाता है, और जो करके 'नही किया'—ऐसा कहता है वह भी नरक में जाता है।

५७. किसी का कृत कर्म नष्ट नहीं होता, समय पर कर्ता को वह प्राप्त होता ही है।

५८. जैसा मैं हूँ वैसे ही ये सब प्राणी हैं, और जैसे ये सब प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ—इस प्रकार अपने समान सब प्राणियों को समझकर न स्वयं किसी का वध करे और न दूसरों से कराए।

५९. सणन्ता यन्ति कुसोब्भा, तुण्ही याति महोदधि ।

—३।३७।४२

६०. यदूनकं तं सणति, यं पूरं संतमेव तं ।
अड्ढकुम्भूपमो बालो, रहदो पूरो व पंडितो ॥

—३।३७।४३

६१. यं किंचि दुक्खं संभोति, सब्बं तण्हा पच्चयाति ।

—३।३८।१७

६२. यं परे सुखतो आहु, तदरिया आहु दुक्खतो ।
यं परे दुक्खतो आहु, तदरिया सुखतो विदु ॥

—३।३८।३९

६३. निवुतानं तमो होति, अन्धकारो अपस्सतं ।

—३।३८।४०

६४. ममायिते पस्सथ फंदमाने,
मच्छेव अप्पोदके खीणसोते ।

—४।४०।६

६५. यो अत्तनो सीलवतानि जन्तु,
अनानुपुट्ठो च परेस पावा ।
अनरियधम्मं कुसला तमाहु,
यो आतुमानं सयमेव पावा ॥

—४।४१।३

६६. तं वापि गन्थं कुसला वदन्ति,
यं निस्सितो पस्सति हीनमञ्ञं ।

—४।४३।३

६७. उदबिंदु यथापि पोक्खरे, पदुमे वारि यथा न लिप्पति ।
एवं मुनि नोपलिप्पति, यदिदं दिट्ठसुतं मुतेसु वा ।

—४।४४।९

६८. ते वादकामा परिसं विगय्ह,
बालं दहन्ति मिथु अञ्ञमञ्ञं ।

—४।४६।२

५९. छोटी नदियां शोर करती बहती हैं और बड़ी नदियां शान्त चुपचाप बहती हैं।

६०. जो अपूर्ण है वह आवाज करता है, और जो पूर्ण है वह शांत=मौन रहता है। मूर्ख अधभरे जलघट के समान है और पंडित लबालब भरे जलाशय के समान।

६१. जो कुछ भी दुःख होता है, वह सब तृष्णा के कारण होता है।

६२. दूसरों ने जिसे सुख कहा है, आर्यों ने उसे दुःख कहा है। आर्यों ने जिसे दुःख कहा है, दूसरों ने उसे सुख कहा है।

६३. मोहग्रस्तों के लिए सब ओर अज्ञान का तम ही तम है, अन्धों के लिए सब ओर अन्धकार ही अन्धकार है।

६४. अल्प जल वाले सूखते जलाशय की मछलियों की तरह अज्ञानी तृष्णा के वशीभूत होकर छटपटाते हैं।

६५. जो मनुष्य बिना पूछे अपने शील व्रतों की चर्चा करता है, आत्म प्रशंसा करता है, उसे ज्ञानियों ने अनार्य धर्म (निम्न आचरण) कहा है।

६६. जो अपनी दृष्टि (विचारों) के फेर में पड़कर दूसरों को हीन समझता है, इसे कुशलों (विद्वानों) ने मन की गाँठ कहा है।

६७. जिस प्रकार कमल के पत्ते पर पानी नहीं टिकता, उसी प्रकार मुनि दृष्टि, श्रुति, एवं धारणा में आसक्त नहीं होता।

६८. वाद करने वाले वादी प्रतिवादी सभा में जाकर एक दूसरे को मूर्ख बताते हैं।

६९. निन्दाय सो कुप्पति रन्धमेसी ।

—४।४६।३

७०. सञ्ञाविरत्तस्स न संति गन्था ।

—४।४७।१३

७१. यस्स लोके सकं नत्थि, असता च न सोचति ।
धम्मेसु च न गच्छति, स वे सन्तो ति वुच्चति ।

—४।४८।१४

७२. एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि ।

—४।५०।७

७३. परस्स चे बंभयितेन हीनो,
न कोचि धम्मेसु विसेसि अस्स ।

—४।५१।११

७४. न ब्राह्मणस्स परनेय्यमत्थि ।

—४।५१।१३

७५. निविस्सवादी नहि सुद्धि नायो ।

—४।५१।१६

७६ झायी न पादलोलस्स, विरमे कुक्कुच्चा नप्पमज्जेय्य ।

—४।५२।११

७७. निद्दं न बहुली करेय्य, जागरियं भजेय्य आतापी ।

—४।५२।१२

७८. अत्तदण्डा भयं जातं ।

—४।५३।१

७९. पुराणं नाभिनन्देय्य, नवे खन्ति न कुब्बये ।

—४।५३।१०

८०. गेधं ब्रूमि महोघो ति ।

—४।५३।११

६९. दूसरों के छिद्र (दोष) देखने वाला निन्दक व्यक्ति अपनी निंदा सुनकर कुपित होता है।

७०. विषयों से विरक्त मनुष्य के लिए कोई ग्रन्थि (बन्धन) नहीं है।

७१. जिसका संसार में कुछ भी अपना नहीं है, जो बीती हुई बात के लिए पछतावा नहीं करता है और जो धर्मों के फेर में नहीं पड़ता है वह उपशांत कहलाता है।

७२. सत्य एक ही है, दूसरा नहीं।

७३. यदि दूसरों की ओर से की जाने वाली अवज्ञा से कोई धर्महीन हो जाए तो, फिर तो धर्मों में कोई भी श्रेष्ठ नहीं रहेगा।

७४. ब्राह्मण (तत्त्वदर्शी) सत्य के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहते।

७५. जो किसी वाद में आसक्त (फँसा) है, उसकी चित्तशुद्धि नहीं हो सकती।

७६. ध्यानयोगी घुमक्कड़ न बने, व्याकुलता से विरत रहे, प्रमाद न करे।

७७. साधक निद्रा को बढ़ाए नहीं, प्रयत्न शील होकर जागरण का अभ्यास करे।

७८. अपने स्वयं के दोष से ही भय उत्पन्न होता है।

७९. पुराने का अभिनन्दन न करे और नये की अपेक्षा न करे।

८०. मैं कहता हूं—लोभ (गृद्धि) एक महासमुद्र है।

८१. कामपंको दुरच्चयो ।

—४।५३।११

८२. चुदितो वचीहि सति माभिनंदे ।

—४।५४।१६

८३. जनवादधम्माय न चेतयेय्य ।

—४।५४।१६

८४. अविज्जायं निवुतो लोको ।

—५।५६।२

८५. अत्थं गतस्स न पमाणमत्थि ।

—५।६१।८

८६. कथंकथा च यो तिण्णो, विमोक्खो तस्स कीदिसो ?

—५।६४।१

८७. निब्बाणं इति नं ब्रूमि, जरमच्चुपरिक्खयं ।

—५।६५।३

८८. तण्हाय विप्पहाणेण, णिब्बाणं इति वुच्चति ।

—५।६८।४

८९. नंदीसंयोजनो लोको ।

—५।६८।५

८१. कामभोग का पंक दुस्तर है।

८२. आचार्य आदि के द्वारा गल्ती बताने पर बुद्धिमान पुरुष उसका अभिनंदन (स्वागत) करे।

८३. साधक, लोगों में झगड़ा कराने की बात न सोचे।

८४. यह संसार अज्ञान से ढका है।

८५. जो जीते-जी अस्त हो गया है, उसका कोई प्रमाण नहीं रहता।

८६. जो शंका और आकांक्षा से मुक्त हो गया है, उसकी दूसरी मुक्ति कैसी ?

८७. मैं कहता हूँ—जरा और मृत्यु का अन्त ही निर्वाण है।

८८. तृष्णा का सर्वथा नाश होना ही निर्वाण कहा गया है।

८९. नंदी (आसक्ति) ही संसार का बंधन है।

सुत्तपिटक :

थेरगाथा[1] की सूक्तियां

●

१. उपसन्तो उपरतो, मन्तभाणी अनुद्धतो।
धुनाति पापके धम्मे, दुमपत्तं व मालुतो॥

—१।२

२. सब्भिरेव समासेथ पण्डितेहत्थदस्सिभि।

—१।४

३. समुन्नमयमत्तानं, उसुकारो व तेजनं।

—१।२६

४. सीलमेव इध अग्गं, पञ्ञवा पन उत्तमो।
मनुस्सेसु च देवेसु, सीलपञ्ञाणतो जयं॥

—१।७०

५. साधु सुविहितान दस्सनं, कंखा छिज्जति, बुद्धि वड्ढति।

—१।७५

६. यो कामे कामयति, दुक्खं सो कामयति।

—१।९३

७. लाभालाभेन मथिता, समाधिं नाधिगच्छन्ति।

—१।१०२

---

१ भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालंदा संस्करण।

सुत्तपिटक :
थेरगाथा की सूक्तियां

●

१. जो उपशांत है, पापों से उपरत है, विचारपूर्वक बोलता है, अभिमान-रहित है, वह उसी प्रकार पापधर्मों को उड़ा देता है जिस प्रकार हवा वृक्ष के सूखे पत्तों को।

२. तत्वद्रष्टा एवं ज्ञानी सत्पुरुषों की संगति करनी चाहिए।

३. अपने आप को उसी प्रकार ठीक करो, जिस प्रकार बाण बनाने वाला बाण को ठीक करता है।

४. संसार में शील ही श्रेष्ठ है, प्रज्ञा ही उत्तम है। मनुष्यों और देवों में शील एवं प्रज्ञा से ही वास्तविक विजय होती है।

५. सत्पुरुषों का दर्शन कल्याणकारी है। सत्पुरुषों के दर्शन से संशय का उच्छेद होता है और बुद्धि की वृद्धि होती है।

६. जो काम भोगों की कामना करता है, वह दुःखों की कामना करता है।

७. जो लाभ या अलाभ से विचलित हो जाते हैं, वे समाधि को प्राप्त नहीं कर सकते।

८. एकङ्गदस्सी दुम्मेधो, सतदस्सी च पण्डितो ।

—१।१०६

९. पंको ति हि न पवेदय्युं, यायं वन्दनपूजना कुलेसु ।
सुखुमं सल्लं दुरुब्बह, सक्कारो कापुरिसेन दुज्जहो ॥

—२।१२४

१०. पुब्बे हनति अत्तानं, पच्छा हनति सो परे ।

—२।१३६

११. न ब्राह्मणो बहिवण्णो, अन्तो वण्णोहि ब्राह्मणो ।

—२।१४०

१२. सुस्सुसा सुतवद्धनी, सुतं पञ्ञाय वद्धनं ।
पञ्ञाय अत्थं जानाति, ञातो अत्थो सुखावहो ॥

—२।१४१

१३. आयु खीयति मच्चानं, कुन्नदीनं व ओदकं ।

—२।१४५

१४. संगामे मे मतं सेय्यो, यञ्चे जीवे पराजितो ।

—२।१६४

१५. यो पुब्बे करणीयानि, पच्छा सो कातुमिच्छति ।
सुखा सो धंसते ठाना, पच्छा च मनुतप्पति ॥

—३।२२५

१६. यम्हि कयिरा तं हि वदे, यं न कयिरा न तं वदे ।
अकरोन्तं भासमाणं, परिजानन्ति पण्डिता ॥

—३।२२६

१७. यथा ब्रह्मा तथा एको, यथा देवो तथा दुवे ।
यथा गामो तथा तयो, कोलाहलं ततुत्तरिं ॥

—३।२४५

१८. रज्जन्ति पि विरज्जन्ति, तत्थ किं जिय्यते मुनि ।

—३।२४७

८. मूर्ख सत्य का एक ही पहलू देखता है, और पंडित सत्य के सौ पहलुओं को देखता है।

९. साधक की समाज में जो वंदना और पूजा होती है, ज्ञानियों ने उसे पंक (कीचड़) कहा है। सत्काररूपी सूक्ष्म शल्य को साधारण व्यक्तियों द्वारा निकाल पाना मुश्किल है।

१०. पापात्मा पहले अपना नाश करता है, बाद में दूसरों का।

११. बाहर के वर्ण (दिखावे) से कोई ब्राह्मण (श्रेष्ठ) नहीं होता, अन्तर् के वर्ण (शुद्धि) से ही ब्राह्मण होता है।

१२. जिज्ञासा से ज्ञान (श्रुत) बढ़ता है, ज्ञान से प्रज्ञा बढ़ती है, प्रज्ञा से सद् अर्थ का सम्यग् बोध होता है, जाना हुआ सद् अर्थ सुखकारी होता है।

१३. मनुष्यों की आयु वैसे ही क्षीण हो जाती है, जैसे छोटी नदियों का जल।

१४. पराजित होकर जीने की अपेक्षा, युद्ध में प्राप्त वीर मृत्यु ही अधिक श्रेष्ठ है।

१५. जो पहले करने योग्य कामों को पीछे करना चाहता है, वह सुख से वंचित हो जाता है, और बाद में पछताता रहता है।

१६. जो कर सके वही कहना चाहिए, जो न कर सके वह नहीं कहना चाहिए। जो कहता है पर करता नहीं है; उसकी विद्वान जन निन्दा करते हैं।

१७. अकेला साधक ब्रह्मा के समान है, दो देवता के समान हैं, तीन गांव के समान हैं, इससे अधिक तो केवल कोलाहल—भीड़ है।

१८. लोग प्रसन्न होते हैं या अप्रसन्न, क्या भिक्षु इसके लिए ही जीता है?

१९. न दुग्गतिं गच्छति धम्मचारी ।

—४।३०३

२०. यस्स सब्रह्मचारीसु, गारवो नूपलब्भति ।
परिहायति सद्धम्मा, मच्छो अप्पोदके यथा ॥

—६।२८७

२१. पमादानुपतितो रजो ।

—६।४८४

२२. अमोघं दिवसं कयिरा, अप्पेन बहुकेन वा ।

—६।४५१

२३. न परे वचना चोरो, न परे वचना मुनि ।

—७।४९७

२४. जीवतेवापि सप्पञ्ञो, अपि वित्तपरिक्खयो ।
पञ्ञाय च अलाभेन, वित्तवापि न जीवति ॥

— ८।४९९

२५. सब्बं सुणाति सोतेन, सब्बं पस्सति चक्खुना ।
न च दिट्ठं सुतं धीरो, सब्ब उज्झितुमरहति ॥

—८।५००

२६. चक्खुमास्स यथा अन्धो, सोतवा बधिरो यथा ।

८।५०१

२७. पञ्ञासहितो नरो इध, अपि दुक्खेसु सुखानि विन्दति ।

—१०।५५१

२८. रसेसु अनुगिद्धस्स, झाने न रमती मनो ।

—१०।५८०

२९. सीलवा हि बहू मित्ते, सञ्ञमेनाधिगच्छति ।
दुस्सीलो पन मित्तेहि, धंसते पापमाचरं ॥

—१२।६१०

३०. सीलं बलं अप्पटिमं, सीलं आवुधमुत्तमं ।
सीलमाभरणं सेट्ठं, सीलं कवचमब्भुतं ॥

—१२।६१४

१६. धर्मात्मा व्यक्ति दुर्गति में नहीं जाता।

२०. जिसका गौरव साथियों को प्राप्त नही होता, वह सद्धर्म (कर्तव्य) से वैसे ही पतित हो जाता है, जैसे कि थोड़े पानी में मछलियां।

२१. प्रमाद से ही वासना की धूल इकट्ठी होती है।

२२. थोड़ा या ज्यादा कुछ न कुछ सत्कर्म करके दिन को सफल बनाओ।

२३. दूसरे के कहने से न कोई चोर होता है और न कोई साधु।

२४. धनहीन होने पर भी बुद्धिमान यथार्थतः जीता है और धनवान होने पर भी अज्ञानी यथार्थतः नही जीता है।

२५. मनुष्य कान से सब कुछ सुनता है, आंख से सब कुछ देखता है, किंतु धीर पुरुष देखी और सुनी सभी बातों को हर कही कहता न फिरे।

२६. साधक चक्षुष्मान होने पर भी अन्धे की भांति रहे, श्रोत्रवान होने पर भी बधिर की भांति आचरण करे।

२७. प्रज्ञावान मनुष्य दुःख में भी सुख का अनुभव करता है।

२८. जो सुस्वादु रसों में आसक्त है उसका चित्त ध्यान में नहीं रमता।

२९. शीलवान अपने संयम से अनेक नये मित्रों को प्राप्त कर लेता है, और दुःशील पापाचार के कारण पुराने मित्रों से भी वंचित हो जाता है।

३०. शील अनुपम बल है, शील सर्वोत्तम शस्त्र है, शील श्रेष्ठ आभूषण है और रक्षा करने वाला अद्भुत कवच है।

३१. अलाभो धम्मिको सेय्यो, यञ्चे लाभो अधम्मिको।

—१४।६६६

३२. अयसो सेय्यो विञ्ञूनं, न यसो अप्पबुद्धिनं।

—१४।६६७

३३. गरहा व सेय्यो विञ्ञूहि, यं चे बालप्पसंसना।

—१४।६६८

३४. मरणं धम्मिकं सेय्यो, यं चे जीवे अधम्मिकं।

—१४।६७०

३५. चरन्ति लोके असिता, नत्थि तेसं पियापियं।

—१४।६७१

३६. रजमुहतं च वातेन यथा मेघोपसम्मये।
एवं सम्मत्ति संकप्पा, यदा पञ्ञाय पस्सति॥

—१५।६७५

३७. रत्तो रागाधिकरणं, विविधं विन्दते दुखं।

—१६।७३४

३८. पिसुनेन च कोधनेन च, मच्छरिता च विभूतिनन्दिना।
सखितं न करेय्य पण्डितो, पापो कापुरिसेन संगमो॥

—१७।१०१७

३९. बहुस्सुतो अप्पस्सुतं यो सुतेनातिमञ्ञति।
अन्धो पदीपधारो व तथेव पटिभाति मं॥

—१७।१०२१

४०. अप्पिच्छता सप्पुरिसेहि वण्णिता।

—१६।११२७

४१. तमेव वाचं भासेय्य, या यत्तानं न तापये।
परे च न विहिंसेय्य, सा वे वाचा सुभासिता॥

—२१।१२३६

३१. अधर्म से होने वाले लाभ की अपेक्षा धर्म से होने वाला अलाभ श्रेयस्कर है।

३२. अल्पबुद्धि मूर्खों के द्वारा प्राप्त यश की अपेक्षा विद्वानों द्वारा किया गया अपयश भी श्रेष्ठ है।

३३. मूर्खों के द्वारा की जाने वाली प्रशंसा की अपेक्षा विद्वानों के द्वारा की जाने वाली निंदा भी श्रेष्ठ है।

३४. अधर्म से जीने की अपेक्षा धर्म से मरना ही श्रेष्ठ है।

३५. जो संसार में अनासक्त होकर विचरण करते है, उनके लिए न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय।

३६. जिस प्रकार हवा से उठी हुई धूल मेघवृष्टि से शांत हो जाती है, उसी प्रकार प्रज्ञा से स्वरूप का दर्शन होने पर मन के विकार शांत हो जाते हैं।

३७. आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख पाता है।

३८. चुगलखोर, क्रोधी, मत्सरी (डाह रखने वाला) और कंजूस—इनकी संगति नही करनी चाहिए, क्योंकि नीच पुरुषों की संगति करना पाप है।

३९. जो बहुश्रुत (विद्वान) होकर, अपने विशिष्ट श्रुतज्ञान के कारण अल्पश्रुत की अवज्ञा करता है, वह मुझे अंधे प्रदीपधर (अंधा मशालची) की तरह प्रतीत होता है।

४०. सत्पुरुषों ने अल्पेच्छता (कम इच्छा) की प्रशंसा की है।

४१. वही बात बोलनी चाहिए जिससे न स्वयं को कष्ट हो और न दूसरों को ही। वस्तुतः सुभाषित वाणी ही श्रेष्ठ वाणी है।

सुत्तपिटक :

जातक[1] की सूक्तियां

●

१. न तं जितं साधु जितं, यं जितं अवजीयति ।
तं खो जितं साधु जितं, यं जितं नावजीयति ॥

—१।७०।७०

२. अकतञ्ञुस्स पोसस्स, निच्चं विवरदस्सिनो ।
सब्बं चे पठविं दज्जा, नेव न अभिराधये ॥

—१।७२।७२

३. मित्तो हवे सत्तपदेन होति, सहायो पन द्वादसकेन होति ।
मासड्ढमासेन च ञाति होति, ततुत्तरिं अत्तसमो पि होति ॥

—१।८३।८३

४. यसं लद्धान दुम्मेधो, अनत्थं चरति अत्तनो ।

—१।१२२।१२२

५. तदेवेकस्स कल्याणं, तदेवेकस्स पापकं ।
तस्मा सब्बं न कल्याणं, सब्बं वा पि न पापकं ॥

—१।१२६।१२६

६. पदुट्ठचित्तस्स न फाति होति,
न चापि तं देवता पूजयन्ति ।

—३।२८८।११४

---

१ भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित, नवनालंदा संस्करण ।

सुत्तपिटक :

जातक की सूक्तियां

●

१. वह विजय अच्छी विजय नहीं है, जो बाद में पराजय में बदल जाए। वह विजय श्रेष्ठ विजय है, जो कभी पराजय में नहीं बदलती।

२. जो व्यक्ति अकृतज्ञ है, निरंतर दोष देखता रहता है, उसे यदि सम्पूर्ण भूमण्डल का साम्राज्य दे दिया जाय तब भी उसे प्रसन्न नहीं किया जा सकता।

३. सात कदम साथ चलने से मित्र हो जाता है, बारह कदम से सहायक हो जाता है। महीना-पन्द्रह दिन साथ रहने से जाति बन्धु बन जाता है, इससे अधिक साथ रहने से तो आत्मसमान (अपने समान) ही हो जाता है।

४. दुर्बुद्धि यश पाकर अनर्थ ही करता है। अर्थात् उसे प्रशंसा पच नहीं पाती।

५. जो एक के लिए अच्छा है, वह दूसरे के लिए बुरा भी है, अतः संसार में एकान्त रूप से न कोई अच्छा है और न कोई बुरा ही है।

६. दुष्ट चित्त वाले व्यक्ति का विकास नहीं होता, और न उसका देवता सम्मान करते हैं।

७. कुलपुत्तो व जानाति, कुलपुत्तं पसंसितुं ।

—३।२६५।१३४

८. यस्स गामे सखा नत्थि, यथा रञ्ञं तथेव तं ।

—४।३१५।६०

९. नहि सत्थं सुनिसितं, विसं हालाहलामिव ।
एवं निकट्ठे पातेति, वाचा दुब्भासिता यथा ॥

—४।३३१।१२२

१०. अलसो गिही कामभोगी न साधु,
असञ्ञतो पब्बजितो न साधु ।
राजा न साधु अनिसम्मकारी,
यो पण्डितो कोधनो तं न साधु ॥

—४।३३२।१२७

११ निसम्मकारिनो राज, यसो कित्ति च वड्ढति ।

—४।३३२।१२८

१२. नो चे अस्स सका बुद्धि, विनयो वान सुसिक्खितो ।
वने अन्धमहिसो व, चरेय्य वहुको जनो ॥

—४।४०६।८१

१३. बलं हि बालस्स वधाय होति ।

—५।३५७।४२

१४. सीलेन अनुपेतस्स, सुतेनत्थो न विज्जति ।

—५।३६२।६६

१५ सब्बं सुतमधीयेथ, हीनमुक्कट्ठमज्झिमं ।

—५।३७३।१२७

१६. धम्मो रहदो अकद्दमो, पापं सेदमलं ति वुच्चति ।
सीलं च नवं विलेपनं, तस्स गन्धो न कदाचि छिज्जति ॥

—६।३८८।९२

१७. विवादेन किसा होन्ति ।

—७।४००।३७

७. कुलपुत्र (खानदानी व्यक्ति) ही कुलपुत्र की प्रशंसा करना जानता है ।

८. जिसका गाँव में कोई मित्र नहीं है, उसके लिए जैसा जंगल, वैसा गाँव !

९. अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र और हलाहल विष भी उतनी हानि नहीं करता, जितना कि अविवेक से बोला हुआ दुर्वचन करता है ।

१०. सुख समृद्धि चाहने वाले गृहस्थ का आलसी होना अच्छा नहीं, प्रव्रजित का असंयमी रहना अच्छा नहीं, राजा का अनिशम्यकारी (बिना सुने समझे निर्णय करने वाला) होना अच्छा नहीं, और पंडित का क्रोधी होना अच्छा नहीं ।

११. राजन् ! सोच समझकर कार्य करने वालों का ही यश तथा कीर्ति बढ़ती है ।

१२. जिनका अपना ज्ञान नहीं है, और जो सदाचारी भी नहीं हैं, ऐसे लोग भूतल पर वन में अंधे भैंसे की तरह फिरते हैं ।

१३. मूर्ख का बल, उसी के वध के लिए हो जाता है ।

१४. शीलरहित व्यक्ति का मात्र श्रुत (ज्ञान)से कोई अर्थ सिद्ध नहीं हो पाता ।

१५. जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, सभी प्रकार का श्रुत (ज्ञान) सीखना चाहिए ।

१६. धर्म कीचड़ से रहित निर्मल सरोवर है, पाप मन का स्वेद-मल (पसीना) है । शील वह अद्‌भुत गंध-विलेपन है, जिसकी गन्ध कभी क्षीण नहीं होती ।

१७. विवाद से सभी जन क्षीण हो जाते हैं ।

१८. यो च दत्वा नानुतप्पे, तं दुक्करतरं ततो ।

—७।४०१।४४

१९. साधु जागरतं सुत्तो ।

—७।४१४।१४१

२०. धम्मो हवे हतो हन्ति ।

—८।४२२।४५

२१. जिह्वा तस्स द्विधा होति, उरगस्सेव दिसम्पति ।
यो जानं पुच्छितो पञ्हं, अञ्ञथा नं वियाकरे ॥

—८।४२२।५०

२२. हीनेन ब्रह्मचरियेन, खत्तियो उपपज्जति ।
मज्झिमेन च देवत्तं, उत्तमेन विसुज्झति ॥

—८।४२४।७५

२३. अग्गी व तिणकट्ठस्मिं, कोधो यस्स पवड्ढति ।
निहीयति तस्स यसो, कालपक्खे व चन्दिमा ॥

—१०।४४३।६०

२४. नत्थि कामा परं दुखं ।

—११।४५९।९९

२५. पञ्ञाय तित्तं पुरिसं, तण्हा न कुरुते वसं ।

—१२।४६७।४३

२६ एरण्डा पुचिमन्दा वा, अथवा पालिभद्दका ।
मधुं मधुत्थिको विन्दे, सो हि तस्स दुमुत्तमो ॥
खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा, सुद्दा चण्डाल पुक्कुसा ।
यम्हा धम्मं विजानेय्य, सो हि तस्स नरुत्तमो ॥

—१३।४७४।७-८

२७. हीनजच्चो पि चे होति, उट्ठाता धितिमा नरो ।
आचारसीलसम्पन्नो, निसे अग्गीव भासति ॥

—१४।५०२।१५७

१८. जो दान देकर पछताता नहीं है, यह अपने में बड़ा ही दुष्कर कार्य है।

१९. साधु सोता हुआ भी जागता है।

२०. धर्म नष्ट होने पर व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

२१. जो जानता हुआ भी पूछने पर अन्यथा (झूठ) बोलता है, उसकी जीभ सांप की तरह दो टुकड़े हो जाती है।

२२. साधारण कोटि के ब्रह्मचर्य (संयम) से कर्मप्रधान क्षत्रिय जाति में जन्म होता है, मध्यम से देवयोनि में और उत्तम ब्रह्मचर्य से आत्मा विशुद्ध होता है।

२३. घास व काठ में पड़ी हुई अग्नि की तरह जिसका क्रोध सहसा भड़क उठता है, उसका यश वैसे ही क्षीण होता जाता है जैसे कि कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा।

२४. काम (इच्छा) से बढ़कर कोई दुःख नहीं है।

२५. प्रज्ञा से तृप्त पुरुष को तृष्णा अपने वश में नहीं कर सकती।

२६. चाहे एरण्ड हो, नीम हो या पारिभद्र (कल्पवृक्ष) हो, मधु चाहने वाले को जहां से भी मधु मिल जाए उसके लिए वही वृक्ष उत्तम है।
इसी प्रकार क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चण्डाल,पुक्कुस आदि कोई भी हो, जिससे भी धर्म का स्वरूप जाना जा सके, जिज्ञासु के लिए वही मनुष्य उत्तम है।

२७. हीन जाति वाला मनुष्य भी यदि उद्योगी है, धृतिमान है, आचार और शील से सम्पन्न है तो वह रात्रि में अग्नि के समान प्रकाशमान होता है।

२८. उट्ठाहतो अप्पमज्जतो, अनुतिट्ठन्ति देवता।

—१७।५२१।११

२९. नालसो विन्दते सुखं।

—१७।५२१।१२

३०. द्वे व तात! पदकानि, यत्थ सब्बं पतिट्ठितं।
उवलद्धस्स च यो लाभो, लद्धस्स चानुरक्खणा॥

—१७।५२१।१५

३१. मा च वेगेन किच्चानि, करोसि कारयेसि वा।
वेगसा हि कतं कम्मं, मन्दो पच्छानुतप्पति॥

—१७।५२१।२१

३२. पसन्नमेव सेवेय्य, अप्पसन्नं विवज्जये।
पसन्नं पयिरुपासेय्य, रहदं वुदकत्थिको॥

—१८।५२८।१३१

३३. यो भजन्तं न भजति, सेवमानं न सेवति।
स वे मनुस्सपापिट्ठो, मिगो साखस्सितो यथा॥

—१८।५२८।१३३

३४. अच्चाभिक्खणसंसग्गा, असमोसरणेन च।
एतेन मित्ता जीरन्ति, अकाले याचनाय च॥

—१८।५२८।१३४

३५. अतिचिरं निवासेन, पियो भवति अप्पियो।

—१८।५२८।१३६

३६. यस्स रुक्खस्स छायाय, निसीदेय्य सयेय्य वा।
न तस्स साखं भञ्जेय, मित्तदुब्भो हि पापको॥

—१८।५२८।१५३

३७. महारुक्खस्स फलिनो, आमं छिन्दति यो फलं।
रसञ्चस्स न जानाति, बीजञ्चस्स विनस्सति॥
महारुक्खूपमं रट्ठं, अधम्मेन पसासति॥
रसञ्चस्स न जानाति, रट्ठञ्चस्स विनस्सति॥

—१८।५२८।१७२-१७३

२८. उद्योगी और अप्रमादी व्यक्ति के अनुष्ठान में देवता भी सहयोगी होते हैं।

२९. आलसी को सुख नहीं मिलता।

३०. हे तात, दो बातों में ही सब कुछ सार समाया हुआ है—अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त का संरक्षण !

३१. जल्दबाजी में कोई कार्य न तो करना चाहिए और न करवाना चाहिए। जल्दबाजी में किये गये काम पर मूर्ख बाद में पछताता है।

३२. प्रसन्नचित्त वाले के साथ ही रहना चाहिए, अप्रसन्नचित्त वाले को छोड़ देना चाहिए। प्रसन्न व्यक्ति का साथ वैसा ही सुखद है, जैसे जलार्थी के लिए स्वच्छ सरोवर।

३३. जो अपने परिचित मित्रों के साथ उचित संपर्क एवं सद्व्यवहार नहीं रखता है, वह पापिष्ठ मनुष्य आकृति से मनुष्य होते हुए भी वृक्ष की शाखा पर रहने वाले बन्दर के समान है।

३४. बार-बार के अधिक संसर्ग से, संसर्ग के सर्वथा छूट जाने से और असमय की मांग से मित्रता जीर्ण हो जाती है, टूट जाती है।

३५. बहुत लम्बे समय के संवास (साथ रहने) से प्रिय मित्र भी अप्रिय हो जाता है।

३६. जिस वृक्ष की छाया में बैठे या सोये, उसकी शाखा को तोड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि मित्रद्रोही पापी होता है।

३७. फल वाले महान् वृक्ष के कच्चे फल को जो तोड़ता है, उसको फल का रस भी नहीं मिल पाता और भविष्य में फलने वाला बीज भी नष्ट हो जाता है।
इसी प्रकार महान वृक्ष के समान राष्ट्र का जो राजा अधर्म से प्रशासन करता है, उसे राज्य का आनन्द भी नहीं मिलता है और राज्य भी नष्ट हो जाता है।

३८. महारुक्खस्स फलिनो, पक्कं छिन्दति यो फलं।
रसञ्चस्स विजानाति, बीजञ्चस्स न नस्सति॥
महारुक्खूपमं रट्ठं, धम्मेन यो पसासति।
रसञ्चस्स विजानाति, रट्ठञ्चस्स न नस्सति॥
—१८।५२८।१७४-१७५

३६ कालपक्खे यथा चन्दो, हायते व सुवे सुवे।
कालपक्खूपमो राज, असतं होति समागमो॥
—२१।५३७।४८४

४०. सुक्कपक्खे यथा चन्दो, वड्ढते व सुवे सुवे।
सुक्कपक्खूपमो राज, सतं होति समागमो॥
—२१।५३७।४८६

४१. न सो सखा यो सखारं जिनाति।
—२१।५३७।४६१

४२. न ते पुत्ता ये न भरन्ति जिण्णं।
—२१।५३७।४६१

४३. पूजको लभते पूजं, वन्दको पटिवन्दनं।
—२२।५३८।१७

४४. अज्जेव किच्चं आतप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे?
—२२।५३८।१२१

४५. करं पुरिस किच्चानि, न च पच्छानुतप्पति।
—२२।५३६।१२६

४६. सब्बे वण्णा अधम्मट्ठा, पतन्ति निरयं अधो।
सब्बे वण्णा विसुज्झन्ति, चरित्वा धम्ममुत्तमं॥
—२२।५४१।४३६

४७. बालूपसेवी यो होति, बालो व समपज्जथ।
—२२।५४५।१२३६

४८. नहि राजकुलं पत्तो, अञ्ञातो लभते यसं।
—२२।५४६।१४७३

३८. फल वाले महान वृक्ष के पके हुए फल को जो तोड़ता है, उसको फल का रस भी मिलता है और भविष्य में फलने वाला बीज भी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जो राजा महान वृक्ष के समान राष्ट्र का धर्म से प्रशासन करता है वह राज्य का रस (आनन्द) भी लेता है और उसका राज्य भी सुरक्षित रहता है।

३९. हे राजन् ! कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की तरह असत्पुरुषों की मैत्री प्रतिदिन क्षीण होती जाती है।

४०. हे राजन् ! शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह सत्पुरुषों की मैत्री निरंतर बढ़ती जाती है।

४१. वह मित्र अच्छा मित्र नहीं है, जो अपने मित्र को ही पराजित करता है।

४२. वह पुत्र अच्छा पुत्र नहीं है, जो अपने वृद्ध गुरुजनों का भरण पोषण नहीं करता।

४३, पूजा (सत्कार) के बदले में पूजा मिलती है, और वन्दन के बदले में प्रतिवन्दन।

४४. आज का काम आज ही कर लेना चाहिए, कौन जाने कल मृत्यु ही आ जाए ?

४५. जो व्यक्ति समय पर अपना काम कर लेता है, वह पीछे पछताता नहीं।

४६. सभी वर्ण के लोग अधर्म का आचरण करके नरक में जाते हैं, और उत्तम धर्म का आचरण करके विशुद्ध होते हैं।

४७. मूर्खों की संगति करने वाला मूर्ख ही हो जाता है।

४८. बड़े लोगों के यहां अपरिचित व्यक्ति को प्रतिष्ठा नहीं मिलती।

विसुद्धिमग्ग की सूक्तियाँ*

●

१. सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं ॥[1]

—१।१

२. अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा।[2]

—१।१

३. विसुद्धी ति सब्बमलविरहितं अच्चंतपरिसुद्धं
निब्बानं वेदितब्बं।

—१।५

४. सब्बदा सील सम्पन्नो, पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहितत्तो, ओघं तरति दुत्तरं ॥[3]

—१।६

---

* आचार्य धर्मानन्द कोशाम्बी द्वारा संपादित, भारतीय विद्याभवन (बम्बई) संस्करण।

१—संयुत्त नि० १।३।३। २—संयुत्त नि० १।३।३। ३—संयुत्त नि० २।२।५

विसुद्धिमग्ग की सूक्तियां

●

१. जो मनुष्य प्रज्ञावान् है, वीर्यवान् है और पण्डित है, भिक्षु है, वह शील पर प्रतिष्ठित होकर सदाचार का पालन करता हुआ, चित्त (समाधि) और प्रज्ञा की भावना करता हुआ इस जटा (तृष्णा) को काट सकता है।

२. भीतर जटा (तृष्णा) है, बाहर जटा है, चारों ओर से यह सब प्रजा जटा से जकड़ी हुई है।

३. सब प्रकार के मलों से रहित अत्यंत परिशुद्ध निर्वाण ही विशुद्धि है।

४. शीलसम्पन्न, बुद्धिमान, चित्त को समाधिस्थ रखने वाला, उत्साही और संयमी व्यक्ति कामनाओं के प्रवाह को (ओघ) तैर जाता है।

५. विरियं हि किलेसानं आतापानपरितापनट्ठेन
आतापो ति वुच्चति ।

—१।७

६. संसारे भयं इक्खतीति—भिक्खु ।

—१।७

७. सीलं सासनस्स आदि ।

—१।१०

८. सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति ।
एवं निंदापसंसासु न समिञ्जंति पण्डिता ॥[४]

—१।१०

९. सीलेन च दुच्चरितसंकिलेसविसोधनं पकासितं होति,
समाधिना तण्हासंकिलेसविसोधनं,
पञ्ञाय दिट्ठिसंकिलेसविसोधनं ।

—१।१३

१०. सिरट्ठो सीलट्ठो, सीतलट्ठो सीलट्ठो ।

—१।१६

११. हिरोत्तप्पे हि सति सीलं उप्पज्जति चेव तिट्ठति च,
असति नेव उप्पज्जति, न तिट्ठति ।

—१।२२

१२. सीलगन्धसमो गन्धो कुतो नाम भविस्सति ।
यो समं अनुवाते च पटिवाते च वायति ।

—१।२४

१३. सग्गारोहणसोपानं अञ्ञं सीलसमं कुतो ?
द्वार वा पन निब्बान—नगरस्स पवेसने ॥

—१।२४

४—धम्मपद ६।६

५. वीर्य (शक्ति) ही क्लेशों को तपाने एवं झुलसाने के कारण आताप कहा जाता है।

६. जो संसार में भय देखता है—वह भिक्षु है।

७. शील धर्म का आरंभ है, आदि है।

८. जैसे ठोस चट्टानों वाला पहाड़ वायु से प्रकम्पित नहीं होता है, वैसे ही पंडित निन्दा और प्रशंसा से विचलित नही होते।

९. शील से दुराचार के संक्लेश (बुराई) का विशोधन होता है।
समाधि से तृष्णा के संक्लेश का विशोधन होता है।
प्रज्ञा से दृष्टि के संक्लेश का विशोधन होता है।

१०. शिरार्थ[1] (शिर के समान उत्तम होना) शील का अर्थ है। शीतलार्थ (शीतल—शांत होना) शील का अर्थ है।

११. लज्जा और संकोच होने पर ही शील उत्पन्न होता है और ठहरता है। लज्जा और संकोच के न होने पर शील न उत्पन्न होता है, और न ठहरता है।

१२. शील की गन्ध के समान दूसरी गंध कहां होगी? जो पवन की अनुकूल और प्रतिकूल दिशाओं में एक समान बहती है।

१३. स्वर्गारोहण के लिए शील के समान दूसरा सोपान (सीढी) कहां है? निर्वाणरूपी नगर में प्रवेश करने के लिए भी शील के समान दूसरा द्वार कहां है?

१—शिर के कट जाने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है—वैसे ही शील के टूट जाने पर मनुष्य का गुणरूप शरीर नष्ट हो जाता है। इसलिए शील शिरार्थ है।

१४. सोभन्तेवं न राजानो मुत्तामणिविभूसिता।
यथा सोभंति यतिनो, सीलभूसनभूसिता॥

—११२४

१५. सद्धाविरियसाधनं चारित्तं।

—११२६

१६. विनयो संवरत्थाय, संवरो अविप्पटिसारत्थाय,
अविप्पटिसारो पामुज्जत्थाय।[५]

—११३२

१७. नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघाटो, गच्छतेस महापथे॥

—११५५

१८. किकीव अण्डं चमरी व वालधिं,
पियं व पुत्तं नयनं व एककं।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका,
सुपेसला होथ सदा सगारवा॥

—११६८

१९. रूपेसु सद्देसु अथो रसेसु,
गन्धेसु फस्सेसु च रक्ख इन्द्रियं।
एतेहि द्वारा विवटा अरक्खिता,
हनन्ति गामं व परस्सहारिनो॥

—११०१

५—विनयपिटक, परिवार पालि १६४

१४. बहुमूल्य मुक्ता और मणियों से विभूषित राजा ऐसा सुशोभित नहीं होता है, जैसा कि शील के आभूषणों से विभूषित साधक सुशोभित होता है।

१५. श्रद्धा और वीर्य (शक्ति) का साधन (स्रोत) चारित्र है।

१६. विनय संवर (सदाचार) के लिए है, संवर पछतावा न करने के लिए है, पछतावा न करना प्रमोद के लिए है।

१७. मैं नहीं जानता कि स्त्री या पुरुष इधर से गया है। हाँ, इस महामार्ग से एक हड्डियों का समूह अवश्य जा रहा है।[२]

१८. जैसे टिटहरी अपने अण्डे को, चमरी अपनी पूँछ को, माता अपने इकलौते प्रिय पुत्र को, काना अपनी अकेली आँखो की सावधानी के साथ रक्षा करता है, वैसे ही अपने शील की अविच्छिन्न रूप से रक्षा करते हुए उसके प्रति सदा गौरव की भावना रखनी चाहिए।

१९. रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शों से इन्द्रियों की रक्षा करो। इन द्वारों के खुले और अरक्षित होने पर साधक दस्युओं द्वारा लुटे हुए गाँव की तरह नष्ट हो जाता है।

---

२. श्री लंका के अनुराधपुर में स्थविर महातिष्य भिक्षाटन के लिए घूम रहे थे। उसी रास्ते एक कुलवधू अपने पति से झगड़ा करके सजीधजी अपने मायके जा रही थी। स्थविर को देख कर वह कामासक्त तरुणी खूब जोरों से हँसी। स्थविर ने उसके दांत की हड्डियों को देखा, और उन पर विचार करते-करते ही वे अर्हत्व स्थिति को प्राप्त हो गए। पीछे से उसका पति पत्नी की खोज करता हुआ आया और स्थविर से पूछा—इधर से कोई स्त्री निकली ? महातिष्य स्थविर ने तब उपर्युक्त गाथा कही।

२०. मक्कटो व अरञ्ञम्हि वने भंतमिगो विय।
बालो विय च उत्रस्तो न भवे लोललोचनो॥

—१।१०८

२१. धनं चजे अंगवरस्स हेतु,
अंगं चजे जीवितं रक्खमानो।
अंगं धनं जीवितञ्चापि सव्वं,
चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो॥

—१।१३३

२२. सुखं कुतो भिन्नसीलस्स ?

—१।१५८

२३. मधुरोपि पिण्डपातो हलाहलविसूपमो असीलस्स।

—१।१५८

२४. अत्तानुवादादिभयं सुद्धसीलस्स भिक्खुनो।
अंधकारं विय रविं हृदयं नावगाहति॥

—१।१५६

२५. यं लद्धं तेन संतुट्ठो यथासन्थतिको यति।
निब्विकप्पो सुखं सेति तिणसन्थरणेसु पि॥

—२।७२

२६. कुसलचित्तेकग्गता समाधि।

—३।२

२७. सुखिनो चित्तं समाधीयति।[६]

—३।४

२८. पियो गरू भावनीयो, वत्ता च वचनक्खमो।
गंभीरं च कथं कत्ता, नो चट्ठाने नियोजये॥

—३।६१

२९. यथा रागो अहितं न परिच्चजति,
एवं सद्धा हितं न परिच्चजति।

—३।७५

६—दीघ निकाय १।२।

२०. जंगल में रहने वाले बन्दर की तरह, वन में दौड़ने वाले चंचलमृग की तरह और मूर्ख मनुष्य की तरह, साधक को त्रस्त एवं चचल नेत्रों वाला नही होना चाहिए।

२१. आवश्यक अंग को बचाने के लिए धन का त्याग करे, जिन्दगी की रक्षा के लिए अंग का भी त्याग कर दे। और धर्म का अनुसरण करते हुए (आवश्यकता पड़ने पर) धन, अंग और जीवन का भी त्याग करदे।

२२. जिसका शील (सदाचार) भग्न हो गया है उसे संसार में सुख कहां ?

२३. अशीलवान (असदाचारी भिक्षु) के लिए मीठा भिक्षान्न भी हलाहल विष के समान है।

२४. शुद्ध शील से संपन्न भिक्षु के हृदय मे अपनी निन्दा आदि का भय नही रहता जैसे कि सूर्य को अंधकार का भय नहीं रहता।

२५. जो प्राप्त हो उसी मे संतुष्ट रहने वाला यथासंस्तरिक भिक्षु तृणों के बिछौने पर भी निर्विकल्प भाव से सुखपूर्वक सोता है।

२६. कुशल (पवित्र) चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।

२७. सुखी का चित्त एकाग्र होता है।

२८. प्रिय, गौरवशाली, आदरणीय, प्रवक्ता, दूसरो की बात सहने वाला, गंभीर बातों को बतलाने वाला और अनुचित कामों में नही लगाने वाला—कल्याण मित्र है।

२९. जैसे राग अहित (बुराई) करना नहीं छोड़ता, ऐसे ही श्रद्धा हित (भलाई) करना नहीं छोड़ती।

३०. निमित्तं रक्खतो लद्ध-परिहानि न विज्जति।
आरक्खम्हि असंतम्हि, लद्धं लद्धं विनस्सति॥

—४।३४

३१. समाहितं वा चित्तं थिरतरं होति।

—४।३८

३२. कायदल्ही बहुलो पन तिरच्छान कथिको असप्पायो।
सो हि तं, कद्दमोदकमिव अच्छं उदक, मलिनमेव करोति।

—४।३८

३३. बलवसद्धो हि मन्दपञ्ञो मुद्धप्पसन्नो होति,
अवत्थुस्मि प्रसीदति।

—४।४७

३४. बलवपञ्ञो मन्दसद्धो केराटिकपक्खं भजति,
भेसज्जसमुट्ठितो विय रोगो अतेकिच्छो होति।

—४।४७

३५. हित्वा हि सम्मा वायामं, विसेसं नाम मानवो।
अधिगच्छे परित्तम्पि, ठानमेत्तं न विज्जति॥

—४।६६

३६. अच्चारद्धं निसेधेत्वा, सममेव पवत्तये।

—४।६६

३७. खुद्दिका पीति सरीरे लोमहंसमेव कातुं सक्कोति।
खणिका पीति खणे खणे विज्जुप्पादसदिसा होति॥

—४।९४

३८. यत्थ पीति, तत्थ सुखं।
यत्थ सुखं, तत्थ न नियमतो पीति।

—४।१००

३९. मतसरीरं उद्ठहित्वा अनुबन्धनकं नाम नत्थि।

—६।५७

३०. प्राप्त निमित्त को अप्रमत्त भाव से सुरक्षित रखने वाले की परिहानि नहीं होती, किन्तु अरक्षित होने पर प्राप्त निमित्त कैसा ही क्यों न अच्छा हो, नष्ट हो जाता है ।

३१. समाहित (एकाग्र हुआ) चित्त ही पूर्ण स्थिरता को प्राप्त होता है ।

३२. निरन्तर अपने शरीर को पोसने में ही संलग्न व्यर्थ की बातें बनाने वाला व्यक्ति सम्पर्क के अयोग्य है । जैसे कीचड़ वाला पानी स्वच्छ पानी को गंदला करता है, ऐसे ही वह अयोग्य व्यक्ति भी साधक के स्वच्छ जीवन को मलिन बनाता है ।

३३. बलवान श्रद्धावाला, किन्तु मन्द प्रज्ञावाला व्यक्ति बिना सोचेसमझे हर कहीं विश्वास कर लेता है, अवस्तु (अयोग्य वस्तु एवं व्यक्ति) में भी सहसा प्रसन्न (अनुरक्त) हो जाता है ।

३४. बलवान् प्रज्ञावाला, किन्तु मन्द श्रद्धावाला व्यक्ति कपटी हो जाता है । वह औषधि से ही उत्पन्न होने वाले रोग के समान असाध्य (लाइलाज) होता है ।

३५. यथोचित सम्यक् प्रयत्न के बिना मनुष्य थोड़ी-सी भी उन्नति (प्रगति) कर ले; यह कथमपि संभव नहीं है ।

३६. साधना के क्षेत्र में एकदम वीर्य (शक्ति) के अत्यधिक प्रयोग को रोक कर साधक को देश, काल, एवं परिस्थिति के अनुकूल सम प्रवृत्ति ही करनी चाहिए ।

३७. क्षुद्रिका प्रीति शरीर में केवल हलका-सा लोमहर्षण (रोमांच) ही कर सकती है ।
क्षणिका प्रीति क्षण क्षण पर विद्युत्पात (बिजली चमकने) के समान होती है ।

३८. जहाँ प्रीति है, वहाँ सुख है । जहाँ सुख है, वहाँ नियमतः प्रीति नहीं भी होती है ।

३९. मृत शरीर उठकर कभी पीछा नहीं करता ।

४०. स चे इमस्स कायस्स, अन्तो बाहिरको सिया।
दण्डं नूनं गहेत्वान, काके सोणे निवारये॥

—६।६३

४१. आरकत्ता हतत्ता च, किलेसारीन सो मुनि।
हतसंसारचक्कारो, पच्चयादीन चारहो।
न रहो करोति पापानि, अरहं तेन पवुच्चति॥

—७।२५

४२. भग्गरागो भग्गदोसो, भग्गमोहो अनासवो।
भग्गास्स पापका धम्मा, भगवा तेन वुच्चति॥

७।५६

४३. सब्बं योब्बन जरापरियोसानं,
सब्बं जीवितं मरणपरियोसानं।

—८।१५

४४. खंत्या भिय्यो न विज्जति।[७]

—९।२

४५. खन्ती परमं तपो तितिक्खा।[८]

—९।२

४६. वेरिमनुस्सरतो कोधो उप्पज्जति।

—९।५

४७. कुद्धं अप्पटिकुज्झंतो सङ्गामं जेति दुज्जयं।

—९।१५

४८. उभिन्नमत्थं चरति, अत्तनो च परस्स च।
परं संकुपितं ञत्वा, यो सतो उपसम्मति॥[९]

—९।१५

७—संयुत्तनिकाय १।२२२। ८—धम्मपद १४।६। ९—संयुत्तनिकाय १।४।

४०. यदि इस शरीर के अन्दर का भाग बाहर मे हो जाए तो अवश्य ही डंडा लेकर कौवों और कुत्तों को रोकना पड़े।

४१. जो सब क्लेशों से आर (दूर) हो गया है, जिसने क्लेशरूपी वैरियों को हनन (नष्ट) कर डाला है, जिसने संसारचक्र के आरों को हत (नष्ट) कर दिया है, जो प्रत्यय (पूजा) आदि के अर्ह (योग्य) है, जो अ+रह (छिपे हुए) पाप नही करता है, इसलिए वह अरह (अर्हंत) कहा जाता है।

४२. जिसका राग भग्न है, द्वेष भग्न है, मोह भग्न है, किं बहुना; जिसके सभी पापधर्म भग्न होगए हैं, इसलिए वह भगवान् कहा जाता है।

४३. सारी जवानी बुढ़ापे के आने तक है।
सारा जीवन मृत्यु के आने तक है।

४४. क्षमा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है।

४५. क्षमा, तितिक्षा (सहनशीलता) परम तप है।

४६. वैरी (शत्रु) का अनुस्मरण करने से क्रोध उत्पन्न होता है।

४७. क्रोधी के प्रति क्रोध नहीं करने वाला दुर्जय संग्राम को भी जीत लेता है।

४८. दूसरे को कुपित जानकर भी जो स्मृतिमान् शान्त रहता है, वह अपना और दूसरे का—दोनों का भला करता है।

४९. कोधन्धा अहितं मग्गं, आरुल्हा यदि वेरिनो।
कस्मा तुवम्पि कुज्झन्तो, तेसं येवानुसिक्खसि॥

—९।२२

५०. यानि रक्खसि सीलानि, तेसं मूलनिकन्तनं।
कोधं नामुपलालेसि, को तया सदिसो जलो॥

—९।२२

५१ आसिसेथेव पुरिसो, न निब्बिन्देय्य पण्डितो।
पस्सामि वोहमत्तानं, यथा इच्छि तथा अहुं॥

—९।२७

५२. अत्तनो सन्तकं परस्स दातब्बं,
परस्स सन्तकं अत्तना गहेतब्बं।

—९।३९

५३ अदन्तदमनं दानं, दानं सब्बत्थसाधकं।
दानेन पियवाचाय, उण्णमन्ति नमन्ति वा॥

—९।३९

५४. उरे आमुत्तमुत्ताहारो विय, सीसे पिलन्धमाला विय च
मनुस्सानं पियो होति मनापो।

—९।६३

५५. मेत्ताविहारिनो खिप्पमेव चित्तं समाधीयति।

—९।७३

५६. पठमं वेरिपुग्गलो करुणायितब्बो।

—९।८२

५७. परदुक्खे सति साधूनं हदयकम्पनं करोती ति करुणा।
किणाति वा परदुक्खं, हिंसति विनासेती ति करुणा।

—९।९२

५८. अन्नं पानं खादनीयं, भोजनञ्च महारहं।
एकद्वारेन पविसित्वा, नवहि द्वारेहि सन्दति॥

—११।२३

४९. क्रोध से अन्धे हुए व्यक्ति यदि बुराई की राह पर चल रहे हैं, तो तू भी क्रोध कर के क्यों उन्हीं का अनुसरण कर रहा है ?

५०. तू जिन शीलों (सदाचारप्रधान व्रतों) का पालन कर रहा है, उन्हीं की जड़ को काटने वाले क्रोध को दुलराता है, तेरे जैसा दूसरा जड़ कौन है ?

५१. बुद्धिमान् पुरुष को सदैव आशावान् प्रसन्न रहना चाहिए, उदास नहीं। मैं अपने को ही देखता हूँ कि मैंने जैसा चाहा, वैसा ही हुआ।

५२ समय पर अपनी वस्तु दूसरे को देनी चाहिए, और दूसरे की वस्तु स्वयं लेनी चाहिए।

५३. दान अदान्त (दमन नहीं किये गए व्यक्ति) का दमन करने वाला है, दान सर्वार्थ का साधक है, दान और प्रिय वचन से दायक ऊँचे होते हैं, और प्रतिग्राहक झुकते हैं।

५४. मैत्री भावना वाला व्यक्ति वक्ष पर बिखरे हुए मुक्ताहार के समान और शिर पर गूँथी हुई माला के समान मनुष्यों का प्रिय एवं मनोहारी होता है।

५५. मैत्री के साथ विहरने वाले का चित्त शीघ्र ही समाधिस्थ होता है।

५६. सर्वप्रथम अपने विरोधी शत्रु पर ही करुणा करनी चाहिए।

५७. दूसरे को दुःख होने पर सज्जनों के हृदय को कंपा देती है, इसलिए करुणा, करुणा कही जाती है।
दूसरे के दुःख को खरीद लेती है, अथवा नष्ट कर देती है, इसलिए भी करुणा करुणा है।

५८. अन्न, पान (पेय), खादनीय और भी बहुत सा सुन्दर भोजन मनुष्य के शरीर में एक द्वार से प्रवेश करता है और नव द्वारों से निकल जाता है।

५९. अन्नं पानं खादनीयं, भोजनञ्च महारहं।
बुञ्जति अभिनन्दन्तो, निक्खामेन्तो जिगुच्छति॥

—११।२३

६०. अन्नं पानं खादनीयं, भोजनञ्च महारहं।
एकरत्ति परिवासा, सब्बं भवति पूतकं॥

—११।२३

६१. रागो रजो न च पन रेणु वुच्चति,
रागस्सेतं अधिवचनं रजो ति।
दोसो रजो न च पन रेणु वुच्चति,
दोसस्सेतं अधिवचनं रजो ति॥

—१२।६३

६२. वीरभावो विरियं। तं उस्साहनलक्खणं।

—१४।१३७

६३. सम्मा आरद्धं सब्बासंपत्तीनं मूलं होति।

—१४।१३७

६४. अत्तानं हि गरुं कत्वा हिरिया पापं जहाति कुलवधू विय।

—१४।१४२

६५. सद्धम्मतेजविहतं विलयं खणेन,
वेनेय्यसत्तहदयेसु तमो पयाति।

—१५।३३

६६. अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खं,
पियेहि विप्पयोगो दुक्खं।[10]

—१६।३१

६७. यथा पि मूले अनुपद्दवे दल्हे,
छिन्नो पि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते,
निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं॥[11]

—१६।६२

१०—संयुत्त निकाय ५४।२।१
११—धम्मपद २४।५

५९. अन्न, पान, खादनीय और भी बहुत से सुन्दर भोजन को मनुष्य अभिनन्द करता हुआ अर्थात् सराहता हुआ खाता है, किन्तु निकालते हुए घृणा करता है।

६०. अन्न, पान, खादनीय और भी बहुत सा सुन्दर भोजन एकरात्रि के परिवास में (बासी होते) ही सब सड़ जाता है।

६१. राग ही रज (धूल) है, रेणु (धूल) रज नहीं है। 'रज' यह राग का ही नाम है।
द्वेष ही रज है, रेणु रज नहीं है। 'रज' यह द्वेष का ही नाम है।

६२. वीरभाव ही वीर्य है। उसका लक्षण है--उत्साहित होना।

६३. सम्यक् प्रकार (अच्छी तरह) से आरंभ किया गया कर्म ही सब सम्पत्तियों का मूल है।

६४. साधक अपने आप को गौरवान्वित करके कुलवधू के समान लज्जा से पाप को छोड़ देता है।

६५. सदाचारी सत्व के हृदय का अन्धकार सद्धर्म के तेज से क्षण भर में ही विलय को प्राप्त हो जाता है।

६६. अप्रिय से संयोग होना दुःख है। प्रिय से वियोग होना दुःख है।

६७. जैसे सुदृढ़ मूल (जड़) के बिल्कुल नष्ट हुए बिना कटा हुआ वृक्ष फिर भी उग आता है, वैसे ही तृष्णा एवं अनुशय (मल) के समूल नष्ट हुए बिना यह दुःख भी बार-बार उत्पन्न होता रहता है।

६८. सीहसमानवुत्तिनो हि तथागता, ते दुक्खं निरोधेन्ता दुक्ख निरोधञ्च देसेन्ता हेतुम्हि पटिपज्जन्ति, न फले। सुवानवुत्तिनो पन तित्थिया, ते दुक्खं निरोधेन्ता दुक्ख-निरोधञ्च देसेन्ता, अत्तकिलमथानुयोगदेसनादीहि फले पटिपज्जन्ति, न हेतुम्हि।

—१६।६१

६९. विरागा विमुच्चति।[12]

—१६।६४

७०. यथापि नाम जच्चंधो नरो अपरिनायको।
एकदा याति मग्गेन कुमग्गेनापि एकदा॥
संसारे संसरं बालो, तथा अपरिनायको।
करोति एकदा पुञ्ञं अपुञ्ञमपि एकदा॥

—१७।११६

७१ दुक्खी सुखं पत्थयति, सुखी भिय्योपि इच्छति।
उपेक्खा पन सन्तत्ता, सुखमिच्चेव भासिता॥

—१७।२३८

७२. उभो निस्साय गच्छन्ति, मनुस्सा नावा च अण्णवे।
एवं नामञ्च रूपञ्च, उभो अञ्ञोञ्ञनिस्सिता॥

—१८।३६

१२—मज्झिमनिकाय ३।२०।

६८. तथागत (प्रबुद्ध ज्ञानी) सिंह के समान स्वभाव वाले होते हैं। वे स्वयं दुःख का निरोध करते हुए तथा दूसरों को दुःखनिरोध का उपदेश देते हुए हेतु में केन्द्रित रहते हैं, फल में नहीं। परंतु अन्य साधारण मताग्रही जन कुत्ते के समान स्वभाव वाले होते हैं, वे स्वयं दुःख का निरोध करते हुए तथा दूसरों को दुःखनिरोध का उपदेश देते हुए अत्तकिलमथानुयोग (नाना प्रकार के देहदंड रूप बाह्यतप के उपदेश आदि) से फल में ही केन्द्रित रहते हैं, हेतु में नहीं।[3]

६९. विराग से ही मुक्ति मिलती है।

७०. जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति हाथ पकड़कर ले चलने वाले साथी के अभाव में कभी मार्ग से जाता है तो कभी कुमार्ग से भी चल पड़ता है। उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण करता हुआ बाल (अज्ञानी) पथप्रदर्शक सद्गुरु के अभाव मे कभी पुण्य का काम करता है तो कभी पाप का काम भी कर लेता है।

७१. दु:खी सुख की इच्छा करता है, सुखी और अधिक सुख चाहता रहता है। किंतु दुःख सुख में उपेक्षा (तटस्थ) भाव रखना ही वस्तुतः सुख है।

७२. जिस प्रकार मनुष्य और नौका—दोनों एक दूसरे के सहारे समुद्र में गति करते हैं, उसी प्रकार संसार में नाम और रूप दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

३—सिंह किसी दण्ड आदि वस्तु से चोट खाने पर उस वस्तु का नहीं, किन्तु मारने वाले का पीछा करता है, जब कि कुत्ता वस्तु की ओर दौड़ता है, मारने वाले की ओर नहीं।

सूक्ति कण*

●

१. एकं नाम किं ? सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका।

—खुद्दक पाठ, ४

२. द्वे नाम किं ? नामं च रूपं च।

—४

३. असेवना बालानं, पंडितानं च सेवना।
पूजा च पूजनीयानं, एतं मंगलमुत्तमं॥

—५।२

४. बाहुसच्चं च सिप्पं च, विनयो च सुसिक्खितो।
सुभासिता च या वाचा, एतं मंगलमुत्तमं॥

—५।४

५. दानं च धम्मचरिया च, ञातकानं च संगहो।
अनवज्जानि कम्मानि, एतं मंगलमुत्तमं॥

—५।६

६. सब्बे व भूता सुमना भवन्तु।

—६।१

---

* सूक्तिकण में उद्धृत सभी ग्रन्थ भिक्षु जगदीश काश्यप संपादित नवनालंदा संस्करण के हैं।

सूक्ति कण

●

१. एक बात क्या है ? सभी प्राणी आहार पर स्थित हैं।

२. दो बात क्या हैं ? नाम और रूप।

३. मूर्खों से दूर रहना, पंडितों का सत्संग करना, पूज्यजनों का सत्कार करना—यह उत्तम मंगल है।

४. बहुश्रुत होना, शिल्प सीखना, विनयी = शिष्ट होना, सुशिक्षित होना और सुभाषित वाणी बोलना—यह उत्तम मंगल है।

५. दान देना, धर्माचरण करना, बन्धु-बान्धवों का आदर सत्कार करना और निर्दोष कर्म करना—यह उत्तम मंगल है।

६. विश्व के सभी प्राणी सुमन हों, प्रसन्न हों।

७. चेतोपणिधिहेतु हि, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं।

—विमानवत्थु १।४७।८०६

८. नत्थि चित्ते पसन्नम्हि, अप्पका नाम दक्खिणा।

—१।४८।८०४

९. यहिं यहिं गच्छति पुञ्ञकम्मो,
तहिं तहिं मोदति कामकामी।

—२।३४।४००

१०. सञ्जानमानो न मुसा भणेय्य,
परूपघाताय न चेतयेय्य।

—२।३४।४११

११. सुखो हवे सप्पुरिसेन संगमो।

—२।३४।४१५

१२. उन्नमे उदकं वुट्ठं, यथा निन्नं पवत्तति,
एवमेव इतो दिन्नं, पेतानं उपकप्पति।

—पेतवत्थु १।५।२०

१३. न हि अन्नेन पानेन, मतो गोणो समुट्ठहे।

—१।८।४७

१४. अदानसीला न च सद्दहन्ति,
दानफलं होति परम्हि लोके।

—१।२०।२४८

१५. मित्तदुब्भोहि पापको।

—१।२१।२५६

१६. यस्स रुक्खस्स छायाय, निसीदेय्य सयेय्य वा।
समूलं पि तं अब्बुहे, अत्थो चे तादिसो सिया॥

—१।२१।२६२

१७. कतुञ्ञुता सप्पुरिसेहि वण्णिता।

—१।२१।२६३

७. मन की एकाग्रता एवं समाधि से ही प्राणी सद्गति प्राप्त करते हैं।

८. प्रसन्न चित्त से दिया गया अल्पदान भी, अल्प नहीं होता है।

९. पुण्यशाली आत्मा जहां कहीं भी जाता है, सर्वत्र सफलता एवं सुख प्राप्त करता है।

१०. जान-बूझ कर झूठ नहीं बोलना चाहिए और दूसरों की बुराई (विनाश) का विचार नहीं करना चाहिए।

११. सज्जन की संगति सुखकर होती है।

१२. ऊँचाई पर वर्षा हुआ जल जिस प्रकार बहकर अपने आप निचाई की ओर आ जाता है, उसी प्रकार इस जन्म में दिया हुआ दान अगले जन्म में फलदायी होता है।

१३. ढेर सारे अन्न और जल से भी, मरा हुआ बैल खड़ा नहीं हो सकता।

१४. जो अदानशील (दान देने से कतराते) हैं, वे—'परलोक में दान का फल मिलता है'—इस बात पर विश्वास नहीं करते।

१५. मित्रद्रोह करना, पाप (बुरा) है।

१६. राजधर्म कहता है—कि जिस वृक्ष की छाया में बैठे या सोए, यदि कोई महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध होता हो, तो उसको भी जड़ से उखाड़ देना चाहिए।

१७. सत्पुरुषों ने कृतज्ञता की महिमा गाई है।

१८. सुखं अकतपुञ्ञानं, इध नत्थि परत्थ च।
सुखं च कतपुञ्ञानं, इध चेव परत्थ च ॥

—१।२७।४०६

१९. यथा गेहतो निक्खम्म, अञ्ञं गेहं पविसति।
एवमेव च सो जीवो, अञ्ञं बोन्दि पविसति ॥

—१।३८।६८८

२०. सत्तिसूलूपमा कामा।

—थेरीगाथा ६।३।१४१

२१. निब्बानसुखा परं नत्थि।

—१६।१।४७८

२२. अतित्ता व मरन्ति नरा।

—१६।१।४८९

२३. अघमूलं भयं वधो।

—१६।१।४९३

२४. दीघो बालान संसारो, पुनप्पुनं च रोदतं।

—१६।१।४९७

२५. अद्दसं काम ते मूलं, संकप्पा काम जायसि।
न तं संकप्पयिस्सामि, एवं काम न होहिसि ॥

—महानिद्देसपालि—१।१।१

२६. अत्तना व कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति ॥[1]

—१।२।८

२७. द्वे ममत्ता—तण्हाममत्तं च दिट्ठिममत्तं च।

—१।२।१२

२८. यदत्तगरही तदकुब्बमानो,
न लिम्पती दिट्ठसुतेसु धीरो।

—१।२।१३

१—धम्मपद १२।९।

१८. पुण्य नहीं करने वालों के लिए न यहां (इस लोक में) सुख है, न वहां (परलोक में)। पुण्य करने वालों के लिए यहां वहां दोनों जगह सुख है।

१९. जिस प्रकार व्यक्ति एक घर को छोड़कर दूसरे घर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है।

२०. संसार के काम भोग शक्ति (घातक बाण) और शूल (भाला) के समान हैं।

२१. निर्वाण के आनन्द से बढ़कर कोई अन्य आनन्द नहीं है।

२२. अधिकतर मनुष्य अतृप्त अवस्था में ही काल के गाल में पहुँच जाते हैं।

२३. भय और वध (हिंसा) पाप का मूल है।

२४. अज्ञानियों का संसार लम्बा होता है, उन्हें बार-बार रोना पड़ता है।

२५. हे काम! मैंने तेरा मूल देख लिया है, तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, फिर तू कैसे उत्पन्न होगा?

२६. अपने द्वारा किया गया पाप अपने को ही मलिन करता है। अपने द्वारा न किया गया पाप अपने को विशुद्ध रखता है।

२७. दो ममत्व है—तृष्णा का ममत्व और दृष्टि का ममत्व।

२८. जो अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करके उन्हें फिर दुबारा नहीं करता है, वह धीर पुरुष दृष्ट तथा श्रुत किसी भी विषयभोग में लिप्त नहीं होता।

२९. यो मुनाति उभे लोके, मुनि तेन पवुच्चति ।

—१।८।१४

३०. मोनं वुच्चति ञाणं ।

—१।२।१४

३१. भग्गरागो ति भगवा, भग्गदोसो ति भगवा ।

—१।१०।८३

३२. अक्कोधनो असन्तासी, अविकत्थी अकुक्कुचो ।
मन्तभाणी अनुद्धतो, स वे वाचायतो मुनि ॥

—१।१०।८५

३३. इच्छानिदानानि परिग्गहानि ।

—१।११।१०७

३४. सब्बेव बाला सुनिहीनपञ्ञा ।

—१।१२।११५

३५. सकं सकं दिट्ठिमकंसु सच्च,
तस्माहि बालो ति परं दहन्ति ।

—१।१२।११७

३६. न हेव सच्चानि बहूनि नाना ।

—१।१२।१२१

३७. न ब्राह्मणस्स परनेय्यमत्थि ।

—१।१३।१४२

३८. कामं बहु पस्सतु अप्पकं वा,
न हि तेन सुद्धिं कुसला वदन्ति ।

—१।१३।१४४

३९. अविज्जाय निवुतो लोको ।

—चुल्लनिद्देस पालि २।१।२

४०. कोधो वुच्चति धूमो ।

—२।३।१७

२९. जो लोक परलोक—दोनों लोकों के स्वरूप को जानता है, वही मुनि कहलाता है।

३०. वस्तुतः ज्ञान ही मौन है।

३१. जिसका राग द्वेष भग्न (नष्ट) हो गया है, वह भगवान है।

३२. जो क्रोधी नहीं है, किसी को त्रास नहीं देता है, अपनी बड़ाई नहीं हाँकता है, चंचलतारहित है, विचारपूर्वक बोलता है, उद्धत नहीं है,—वही वाचायत (वाक्संयमी) मुनि है।

३३. परिग्रह का मूल इच्छा है।

३४. सभी बाल जीव प्रज्ञाहीन होते हैं।

३५. सभी मतवादी अपनी अपनी दृष्टि को सत्य मानते हैं, इसलिए वे अपने सिवाय दूसरों को अज्ञानी के रूप में देखते हैं।

३६. न सत्य अनेक हैं, न नाना (एक दूसरे से पृथक्) हैं।

३७. ब्राह्मण (ज्ञानी) परनेय नहीं होते—अर्थात् वे दूसरों के द्वारा नहीं चलाए जाते, वे स्वयं अपना पथ निश्चित करते हैं।

३८. संसार के नाम रूपों को भले ही कोई थोड़ा जाने या अधिक, ज्ञानियों ने आत्मशुद्धि के लिए इसका कोई महत्व नहीं माना है।

३९. संसार अविद्या से पैदा होता है।

४०. क्रोध मन का धुआँ है।

४१. उपधिनिदाना पभवंति दुक्खा।

—२।४।१६

४२. यो वे अविद्वा उपधिं करोति।

—२।४।२०

४३. नत्थञ्ञो कोचि मोचेता।

—२।५।१३

४४. यस्मिं कामा न वसन्ति, तण्हा यस्स न विज्जति।
कथंकथा च यो तिण्णो, विमोक्खो तस्स नापरो॥

—२।१।५८

४५. अकिञ्चनं अनादानं, एतं दीपं अनापरं।

—२।१०।६३

४६. अमतं निब्बानं।

—२।१०।६३

४७. संसग्गजातस्स भवन्ति स्नेहा,
स्नेहन्वयं दुक्खमिदं पहोति।

—३।२

४८. एको धम्मो पहातब्बो—अस्मिमानो।

—पटिसम्भिदामग्गो १।१।१।६६

४९. द्वे धम्मा पहातब्बा—अविज्जा च भवतण्हा च।

—१।१।१।६६

५०. एको समाधि—चित्तस्स एकग्गता।

—१।१।३।१०६

५१. सद्धाबलं धम्मो....
पञ्ञाबलं धम्मो।

—१।१।२५-२८।२०७

५२. अतीतानुधावनं चित्तं विक्खेपानुपतितं समाधिस्स परिपन्थो।
अनागतपटिकंखनं चित्तं विकम्पितं समाधिस्स परिपन्थो॥

—१।१।३।८

४१. दुःखों का मूल उपाधि है।

४२. जो मूर्ख है वही उपाधि करता है।

४३. दूसरा कोई किसी को मुक्त नहीं कर सकता।

४४. जिसमें न कोई काम है और न कोई तृष्णा है, और जो कथंकथा (विचिकित्सा) से पार हो गया है, उसके लिए दूसरा और कोई मोक्ष नहीं है, अर्थात् वह मुक्त है।

४५. रागादि की आसक्ति और तृष्णा से रहित स्थिति से बढ़कर और कोई शरणदाता द्वीप नही है।

४६. निर्वाण अमृत है।

४७. संसर्ग से स्नेह (राग) होता है, और स्नेह से दुःख होता है।

४८. एक धर्म (बात) छोड़ना चाहिए—अहंकार।

४९. दो धर्म (बात) छोड़ देने चाहिएँ—अविद्या और भवतृष्णा।

५०. एक समाधि है—चित्त की एकाग्रता।

५१. श्रद्धा का बल धर्म है।
प्रज्ञा का बल धर्म है।

५२. अतीत की ओर दौड़ने वाला विक्षिप्त चित्त, समाधि का शत्रु है।
भविष्य की आकांक्षा से प्रकंपित चित्त, समाधि का शत्रु है।

५३. सब्बे सत्ता अवेरिनो होन्तु, मा वेरिनो ।
    सुखिनो होन्तु, मा दुक्खिनो ॥

—२।४।२।६

५४. कोसेज्जं भयतो दिस्वा, विरियारंभं च खेमतो ।
    आरद्धविरिया होथ, एसा बुद्धानुसासनी ॥

—चरियापिटक ७।३।१२

५५. विवादं भयतो दिस्वा, अविवादं च खेमतो ।
    समग्गा सखिला होथ, ऐसा बुद्धानुसासनी ॥

—७।३।१३

५६. न तं याचे यस्स पियं जिगिंसे,
    विद्दोसो होति अतियाचनाय ।

—विनयपिटक, पाराजिक २।६।१११

५७. अत्थेनेव मे अत्थो, किं काहमि व्यञ्जनं बहुं ।

—विनयपिटक, महावग्ग १।१७।६०

५८. अकम्मं न च करणीयं ।

—६।४।१०

५९. सब्बदा वे सुखं सेति, ब्राह्मणो परिनिब्बुतो ।
    यो न लिम्पति कामेसु, सीतीभूतो निरूपधि ॥

—विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६।२।१२

६०. द्वे पुग्गला बाला—यो च अनागतं भारं वहति,
    यो च आगतं भारं न वहति ।
    द्वे पुग्गला पंडिता—यो च अनागतं भारं न वहति,
    यो च आगतं भारं वहति ।

—विनयपिटक, परिवारवग्ग ७।२।५

६१. द्वे पुग्गला बाला—यो च अधम्मे धम्मसञ्ञी,
    यो च धम्मे अधम्मसञ्ञी ।

—७।२।६

६२. अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे ।
    कम्मारो रजतस्सेव, निद्धने मलमत्तनो ॥

—अभिधम्मपिटक (कथावत्थु पालि) १।४।२७८

●

५३. सभी प्राणी वैर से रहित हों, कोई वैर न रखे।
सभी प्राणी सुखी हों, कोई दुःख न पाए।

५४. आलस्य को भय के रूप में और उद्योग को क्षेम के रूप में देखकर मनुष्य को सदैव उद्योगशील पुरुषार्थी होना चाहिए—यह बुद्धों का अनुशासन है।

५५. विवाद को भय के रूप में और अविवाद को क्षेम के रूप में देखकर मनुष्य को सदैव समग्र (अखण्डित-संघटित) एवं प्रसन्नचित्त रहना चाहिए—यह बुद्धों का अनुशासन है।

५६. जिस से प्रेम रखना हो, उससे याचना नहीं करनी चाहिए। बार-बार याचना करने से प्रेम के स्थान पर विद्वेष उभर आता है।

५७. मुझे सिर्फ अर्थ (भाव) से ही मतलब है। बहुत अधिक शब्दों से क्या करना है?

५८. मनुष्य को कभी अकर्म (दुष्कर्म) नही करना चाहिए।

५९. जो काम भोगों में लिप्त नहीं होता, जिसकी आत्मा प्रशान्त (विद्वेषरहित) है, और जो सब उपाधियों से मुक्त है, ऐसा विरक्त ब्राह्मण (साधक) सदा सुखपूर्वक सोता है।

६०. दो व्यक्ति अज्ञानी होते हैं—एक वह जो भविष्य की चिन्ता का भार ढोता है, और दूसरा वह जो वर्तमान के प्राप्त कर्तव्य की उपेक्षा करता है।
दो व्यक्ति विद्वान होते हैं—एक वह जो भविष्य की चिन्ता नही करता, और दूसरा वह जो वर्तमान मे प्राप्त कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता।

६१. दो व्यक्ति मूर्ख होते हैं—एक वह जो अधर्म में धर्म बुद्धि रखता है, दूसरा वह जो धर्म में अधर्म बुद्धि रखता है।

६२. मेधावी साधक अपनी आत्मा के मल (दोष) को उसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा क्षण-क्षण में साफ करता रहे, जिस प्रकार कि सुनार रजत (चांदी) के मैल को साफ करता है।